

समाधितन्त्र

अनुक्रमणिका

- 001) मंगलाचरण
- 001) अरिहंत भगवान की स्तुति
- 003) आचार्य द्वारा संकल्प
- 003) आत्मा के भेद
- 005) तीनों का स्वरूप
- 005) परमात्मा के पर्यायवाची
- 007) बहिरात्मा को देह में आत्मबुद्धि का कारण
- 007) बहिरात्मा की चारों गतियों में आत्मबुद्धि
- 010) बहिरात्मा दूसरे के शरीर को ही उसकी आत्मा मानता है
- 010) इस अध्यवसाय का परिणाम
- 012) अविद्या के संस्कार से जन्मान्तर में भी मूढ़ता
- 012) बहिरात्मा और अन्तरमा का दृष्टिकोण भिन्न
- 014) ममकार पतन का कारण
- 014) उपसंहार
- 016) अंतरात्मा को पूर्व की बहिरात्मदशा का खेद
- 016) आत्मा को जानने का उपाय
- 018) वचन-प्रवृत्ति का त्याग
- 018) विकल्पों का त्याग
- 020) निर्विकल्प स्वरूप
- 020) आत्मज्ञान के पूर्व चेष्टा
- 022) वर्तमान में चेष्टा
- 022) अखण्ड स्वरूप
- 024) जाग्रत अवस्था में आत्मा मात्र स्व-संवेदन गम्य
- 024) आत्मानुभव करने वाले के राग-द्वेष का अभाव
- 026) अन्य कोई भी मेरे शत्रु और मित्र नहीं
- 026) अंतरात्मा का कर्तव्य
- 029) अज्ञानी का भय भी विपरीत
- 029) आत्म-स्वरूप की प्राप्ति
- 031) मैं ही परमात्मा
- 031) भेद-विज्ञान रहित के घोर तपस्या भी व्यर्थ
- 034) भेद-विज्ञानी को तप में खेद नहीं
- 034) निस्तरंग चित्त को ही आत्म-दर्शन
- 036) भेद-ज्ञान से रहित आत्मानुभव एक भ्रान्ति
- 036) भेद-विज्ञान के बिना विक्षिप्त चित्त में राग-द्वेष
- 038) विक्षिप्त चित्त को ही मान-अपमान
- 038) शुद्ध-आत्म स्वरूप की भावना द्वारा अपमानादि दूर
- 040) शरीर और इन्द्रिय विषयों से प्रेम नाश का उपाय
- 040) भेद-विज्ञान द्वारा ही शरीर में आत्म-बुद्धि दूर होती है
- 042) अज्ञानी और ज्ञानी के तप करने के प्रयोजन में भेद
- 042) अज्ञानी कर्म से बंधता है और ज्ञानी मुक्त होता है
- 044) आत्मा को लेकर अज्ञानी और ज्ञानी में दृष्टि भेद
- 044) अभेदरूप भ्रान्ति का कारण
- 046) अन्तरात्मा भ्रान्ति को कैसे दूर करता है?
- 046) तीनों प्रकार के आत्मा के ग्रहण त्याग में भेद
- 048) अन्तरात्मा का ग्रहण-त्याग
- 048) स्त्री-पुत्र में विश्वास और रमणता -- बहिरात्म-दशा

- 050) अन्तरात्मा के स्व-पर उपकारादिक में अनासक्तता
050) अन्तरात्मा की भावना
052) अन्तरात्मा में समूल परिवर्तन
052) अन्तरात्मा वैज्ञानिक की भांति
054) आत्मा वचन और वाणी से असंग
054) इन्द्रिय विषय से आत्मा का तनिक भी भला नहीं
056) अनादि जड़-संस्कार द्वारा पर में ममत्व
056) अन्तरात्मा के पर में अनात्म-बुद्धि
058) दूसरों को बताने का श्रम व्यर्थ है
058) दूसरों को समझाना व्यर्थ क्यों?
060) मोहाच्छादित बाह्य पदार्थों से सन्तुष्ट
060) अन्तरात्मा शरीरादि के प्रति उदासीन
062) मन-वचन-शरीर में आत्मबुद्धि का फल संसार
062) अन्तरात्मा के शरीर के प्रति भेद-भावना
067) अन्तरात्मा को शरीर जड़ दिखता है
067) आत्मा के यथार्थ स्वरूप को नहीं जानने से संसार
069) अज्ञानी शरीर को ही आत्मा समझ लेते हैं
069) मैं शरीर नहीं, ज्ञान मेरा शरीर
071) आत्म-स्वरूप में निश्चल धारणा से मुक्ति
071) अन्तरात्मा लौकिक संसर्ग से परे
073) अन्तरात्मा के लिए ग्राम-वन में कोई भेद नहीं
073) आत्मदर्शी और अनात्मदर्शी के फल
075) आत्मा स्वयं अपना गुरु, कोई और नहीं
075) अज्ञानी को मरण का भय
077) ज्ञानी भय-रहित
077) ज्ञानी और अज्ञानी की परिणति भिन्न
079) आत्म-स्वरूप में जाग्रत के मुक्ति-प्राप्ति
079) योगी को जगत कैसा प्रतिभासित होता है?
081) आत्मा की चर्चा मात्र से मुक्ति नहीं
081) अन्तरात्मा स्वप्न में भी अपने को शरीर नहीं मानता
083) व्रत का विकल्प भी त्यागने योग्य
083) त्याग का क्रम
085) अंतर-जल्प रहित को मुक्ति
085) विकल्पों के नाश का क्रम
087) लिंग-रहित को मुक्ति
087) जाति का हठ मुक्ति में बाधक
089) जाति और लिंग को लेकर हठ भी मुक्ति में बाधक
089) निर्मोही और मोही में भेद
091) अज्ञानी को संयोग में एकत्व-बुद्धि
091) अन्तरात्मा संयोग को संयोग ही देखता है
093) बहिरात्मा और अन्तरात्मा किसे भ्रम कहते हैं
093) शास्त्र-ज्ञान और जाग्रत अवस्था से ही मुक्ति नहीं
095) रुचि के अनुसार तन्मयता
095) रुचि नहीं तो श्रद्धा हट जाती है
097) भिन्न आत्मा की उपासना
097) अभिन्न आत्मा की उपासना
099) भिन्न-अभिन्न आराधना द्वारा लक्ष्य प्राप्ति
099) चार्वाक और सांख्य के प्रति
101) आत्मा का नाश नहीं होता
101) काय-क्लेश क्या व्यर्थ है?
103) आत्मा और शरीर में निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध
103) बहिरात्मा निमित्त को उपादान देखता है
105) समाधितंत्र शास्त्र पढ़ने का फल

!! श्रीसर्वज्ञवीतरागाय नमः !!

आचार्य-पूज्यपाद-प्रणीत

श्री

समाधितन्त्र

मूल संस्कृत गाथा, श्री प्रभाचंद्र आचार्य द्वारा कृत संस्कृत टीका का हिंदी अनुवाद पं देवेन्द्रकुमार बिजौलियां वाले, श्री क्षु. मनोहर वर्णी द्वारा कृत हिंदी टीका सहित

आभार :

!! नमः श्रीसर्वज्ञवीतरागाय !!

ओंकारं बिन्दुसंयुक्तं नित्यं ध्यायन्ति योगिनः

कामदं मोक्षदं चैव ॐकाराय नमो नमः ॥1॥

अविरलशब्दघनौघप्रक्षालितसकलभूतलकलंका

मुनिभिरूपासिततीर्था सरस्वती हरतु नो दुरितान् ॥2॥

अज्ञानतिमिरान्धानां ज्ञानाञ्जनशलाकया

चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरुवे नमः ॥3॥

अर्थ : बिन्दुसहित ॐकार को योगीजन सर्वदा ध्याते हैं, मनोवाँछित वस्तु को देने वाले और मोक्ष को देने वाले ॐकार को बार बार नमस्कार हो । निरंतर दिव्य-ध्वनि-रूपी मेघ-समूह संसार के समस्त पापरूपी मैल को धोनेवाली है मुनियों द्वारा उपासित भवसागर से तिरानेवाली ऐसी जिनवाणी हमारे पापों को नष्ट करो । जिसने अज्ञान-रूपी अंधेरे से अंधे हुये जीवों के नेत्र ज्ञानरूपी अंजन की सलाई से खोल दिये हैं, उस श्री गुरु को नमस्कार हो । परम गुरु को नमस्कार हो, परम्परागत आचार्य गुरु को नमस्कार हो ।

॥ श्रीपरमगुरुवे नमः, परम्पराचार्यगुरुवे नमः ॥

सकलकलुषविध्वंसकं, श्रेयसां परिवर्धकं, धर्मसम्बन्धकं, भव्यजीवमनः प्रतिबोधकारकं, पुण्यप्रकाशकं, पापप्रणाशकमिदं शास्त्रं श्री-समाधितंत्र नामधेयं, अस्य मूल-ग्रन्थकर्तारः श्री-सर्वज्ञ-देवास्तदुत्तर-ग्रन्थ-कर्तारः श्री-गणधर-देवाः प्रति-गणधर-देवास्तेषां वचनानुसार-मासाद्य आचार्य श्री-पूज्यपाद-देव विरचितं ॥

(समस्त पापों का नाश करनेवाला, कल्याणों का बढ़ानेवाला, धर्म से सम्बन्ध रखनेवाला, भव्यजीवों के मन को प्रतिबुद्ध-सचेत करनेवाला यह शास्त्र समाधितंत्र नाम का है, मूल-ग्रन्थ के रचयिता सर्वज्ञ-देव हैं, उनके बाद ग्रन्थ को गूँथनेवाले गणधर-देव हैं, प्रति-गणधर देव हैं उनके वचनों के अनुसार लेकर आचार्य श्रीपूज्यपाददेव द्वारा रचित यह ग्रन्थ है । सभी श्रोता पूर्ण सावधानी पूर्वक सुनें ।)

॥ श्रोतारः सावधानतया शृण्वन्तु ॥

मंगलं भगवान् वीरो मंगलं गौतमो गणी

मंगलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलम् ॥

सर्वमंगलमांगल्यं सर्वकल्याणकारकं

प्रधानं सर्वधर्माणां जैनं जयतु शासनम् ॥

मंगलाचरण

येनात्माऽबुध्यतात्मैव परत्वेनैव चापरम्

अक्षयानन्तबोधाय तस्मै सिद्धात्मने नमः ॥1॥

नमूँ सिद्ध परमात्म को, अक्षय बोध स्वरूप

जिन ने आत्मा आत्ममय, पर जाना पररूप ॥१॥

अन्वयार्थ : [येन] जिसके द्वारा [आत्मा] आत्मा, [आत्मा एव] आत्मारूप से ही [अबुद्ध्यत] जाना गया है [च] और [अपर] अन्य को-कर्मजनित मनुष्यादिपर्यायरूप पुद्गल को [परत्वेन एव] पररूप से ही [अबुद्ध्यत] जाना गया है, [तस्मै] उस [अक्षयानन्तबोधाय]

अविनाशी अनन्तज्ञानस्वरूप [सिद्धात्मने] सिद्धात्मा को [नमः] नमस्कार हो ॥१॥

अरिहंत भगवान की स्तुति

जयन्ति यस्यावदतोऽपि भारती-

विभूतयस्तीर्थकृतोप्यनीहितुः ।

शिवाय धात्रे सुगताय विष्णवे

जिनाय तस्मै सकलात्मने नमः ॥२॥

बिन अक्षर इच्छा वचन, सुखद जगत् विख्यात ।

धारक ब्रह्मा विष्णु बुध, शिव जिन सो ही आप्त ॥२॥

अन्वयार्थ : [यस्य तीर्थकृत अनीहितु अपि] जिस तीर्थङ्कर की बिना इच्छा के, [अवदत अपि] बिना बोले भी, [भारती विभूतयः] दिव्यध्वनि की विभूति [जयन्ति] जयवन्त वर्तती है, [तस्मै शिवाय] उस शिव, [धात्रे सुगताय विष्णवे] ब्रह्मा, बुद्ध, विष्णु, [जिनाय] जितेन्द्रिय और [सकलात्मने] शरीर सहित परमात्मा के लिए [नमः] नमस्कार हो ।

आचार्य द्वारा संकल्प

श्रुतेन लिङ्गेन यथात्मशक्ति समाहितान्तःकरणेन सम्यक्

समीक्ष्य कैवल्यसुखस्पृहाणां विविक्तमात्मानमथाभिधास्ये ॥३॥

चहें अतीन्द्रिय सुख उन्हें, आत्मा शुद्ध स्वरूप ।

श्रुत अनुभव अनुमान से, कहूँ शक्ति अनुरूप ॥३॥

अन्वयार्थ : [अथ] अब (परमात्मा को नमस्कार करने के अनन्तर) [अहं] मैं (पूज्यपाद आचार्य) [विविक्त आत्मानं] कर्ममल-रहित आत्मा के शुद्धस्वरूप को [श्रुतेन] शास्त्र के द्वारा [लिङ्गेन] अनुमान व हेतु के द्वारा [समाहितान्तःकरणेन] एकाग्र मन के द्वारा [सम्यक् समीक्ष्य] अच्छी तरह अनुभव करके [कैवल्य-सुखस्पृहाणां] कैवल्यपद- विषयक अथवा निर्मल अतीन्द्रिय-सुख की इच्छा रखनेवालों के लिए [यथात्म-शक्ति] अपनी शक्ति के अनुसार [अभिधास्ये] कहूँगा ।

आत्मा के भेद

बहिरन्तः परश्चेति त्रिधात्मा सर्वदेहिषु

उपेयात्तत्र परमं मध्योपायाद् बहिस्त्यजेत् ॥४॥

त्रिविधिरूप सब आतमा, बहिरात्मा पद छेद ।

अन्तरात्मा होयकर, परमात्म पद वेद ॥४॥

अन्वयार्थ : [सर्वदेहिषु] सर्व प्राणियों में [बहिः] बहिरात्मा [अन्तः] अन्तरात्मा [च परः] और परमात्मा, [इति] इस तरह [त्रिधा] तीन प्रकार का [आत्मा] आत्मा [अस्ति] है [तत्र] उनमें से [मध्योपायात्] अन्तरात्मा के उपाय द्वारा, [परमं] परमात्मा को [उपेयात्] अङ्गीकार करना चाहिए और [बहिः] बहिरात्मा को [त्यजेत्] छोड़ना चाहिए ।

तीनों का स्वरूप

बहिरात्मा शरीरादौ जातात्मभ्रान्तिरान्तरः

चित्तदोषात्मविभ्रान्तिः, परमात्माऽतिनिर्मलः ॥५॥

बहिरात्म भ्रम वश गिने, आत्मा तन इक रूप ।

अन्तरात्म मल शोधता, परमात्मा मल मुक्त ॥५॥

अन्वयार्थ : [शरीरादौ जातात्मभ्रान्ति बहिरात्मा] शरीरादिक में आत्म-भ्रान्ति को धरनेवाला (उन्हें भ्रम से आत्मा समझनेवाला) बहिरात्मा है; [चित्तदोषात्मविभ्रान्ति आन्तरः] चित्त के, (राग-द्वेषादिक) दोषों के और आत्मा के विषय में अभ्रान्त रहनेवाला (उनका ठीक विवेक

रखनेवाला, अर्थात् चित्त को चित्तरूप से, दोषों को दोषरूप से और आत्मा को आत्मारूप से अनुभव करनेवाला) अन्तरात्मा कहलाता है; [अतिनिर्मल परमात्मा:] (सर्व कर्ममल से रहित) जो अत्यन्त निर्मल है, वह परमात्मा है ।

परमात्मा के पर्यायवाची

निर्मलः केवलः शुद्धो विविक्तः प्रभुरव्ययः

परमेष्ठी परात्मेति परमात्मेश्वरो जिनः ॥6॥

शुद्ध, स्पर्श-मल बिन प्रभू अव्यय अज परमात्म ।

ईश्वर निज उत्कृष्ट वह, परमेष्ठी परमात्म ॥६॥

अन्वयार्थ : [निर्मलः] निर्मल (मलरहित), [केवल] केवल (शरीरादि पर-द्रव्यों के सहाय से रहित), [शुद्धः] शुद्ध (रागादि से अत्यन्त भिन्न हो गये होने से परमविशुद्धिवाले), [विविक्त] विविक्त (शरीर और कर्मादिक के स्पर्श से रहित), [प्रभुः] प्रभु (इन्द्रादिक के स्वामी), [अव्यय] अव्यय (अपने अनन्त चतुष्टयरूप स्वभाव से कभी स्मृत नहीं होनेवाले), [परमेष्ठी] परमेष्ठी (इन्द्रादिक से अन्य परमपद में स्थित), [परात्मा] परात्मा (संसारी जीवों से उत्कृष्ट आत्मा), [ईश्वर] ईश्वर (अन्य जीवों में असम्भव, ऐसी शक्ति के धारक, अर्थात् अन्तरंग अनन्त चतुष्टय और बाह्य समवसरणादि विभूतियों से युक्त), [जिनः] जिन (ज्ञानावरणादि सम्पूर्ण कर्म-शत्रुओं को जीतनेवाले), [इति परमात्मा] ये परमात्मा के नाम हैं ।

बहिरात्मा को देह में आत्मबुद्धि का कारण

बहिरात्मेन्द्रियद्वारै - रात्मज्ञानपराङ्मुखः

स्फुरितः स्वात्मनो देहमात्मत्वेनाध्यवस्यति ॥7॥

आत्मज्ञान से हो विमुख, इन्द्रिय से बहिरात्म ।

आत्मा को तनमय समझ, तन ही गिने निजात्म ॥७॥

अन्वयार्थ : [बहिरात्मेन्द्रियद्वारै] बहिरात्मा, इन्द्रिय द्वारों में [स्फुरित] प्रवृत्त होने से, [आत्मज्ञान पराङ्मुखः] आत्मज्ञान से पराङ्मुख-वर्जित होता है; इससे वह [आत्मनः देह] अपने शरीर को, [आत्मत्वेन अध्यवस्यति] मिथ्या अभिप्रायपूर्वक, आत्मारूप समझता है ।

बहिरात्मा की चारों गतियों में आत्मबुद्धि

नरदेहस्थमात्मान - मविद्वान् मन्यते नरम्

तिर्यज्च तिर्यगङ्गस्थं सुराङ्गस्थं सुरं तथा ॥8॥

नारकं नारकाङ्गस्थं न स्वयं तत्त्वतस्तथा

अनन्तानन्तधीशक्तिः स्वसंवद्योऽचलस्थितिः ॥9॥

तिर्यक में तिर्यच गिन, नर तन में नर मान ।

देव देह को देव लख, करे मूढ़ पहिचान ॥८॥

नारक तन में नारकी, पर नहीं यह चैतन्य ।

है अनन्त धी शक्तियुत, अचल स्वानुभवगम्य ॥९॥

अन्वयार्थ : [अविद्वान्] मूढ़ बहिरात्मा, [नरदेहस्थ आत्मानं नरम्] मनुष्य देह में स्थित आत्मा को मनुष्य, [तिर्यक्स्थ तिर्यचं] तिर्यच में स्थित को तिर्यज्च, [सुराङ्गस्थ सुरं] देव में स्थित को देव [तथा] और [नारकाङ्गस्थ नारकं] नारकी के शरीर में स्थित को नारकी [मन्यते] मानता है, किन्तु [तत्त्वतः] वस्तुतः [स्वयं तथा न] स्वयं आत्मा वैसा नहीं है, [तत्त्वस्तु] किन्तु वास्तविकरूप से यह आत्मा, [अनन्तानन्त-धी-शक्तिः] अनन्तानन्त ज्ञान और अनन्तानन्त शक्ति [वीर्यं] रूप है, [स्व-संवद्य] स्वानुभवगम्य है (अपने अनुभवगोचर है) और [अचलस्थिति] अपने स्वरूप में सदा निश्चल-स्थिर रहनेवाला है ।

बहिरात्मा दूसरे के शरीर को ही उसकी आत्मा मानता है

स्वदेहसदृशं दृष्ट्वा परदेहमचेतनम्

परात्माधिष्ठितं मूढः परत्वेनाध्यवस्यति ॥10॥

जैसे निज की देह में, आत्म-कल्पना होय ।

वैसे ही पर-देह में, चेतनता संजोय ॥१०॥

अन्वयार्थ : [मूढः] अज्ञानी बहिरात्मा, [परात्माधिष्ठित] अन्य के आत्मा के साथ रहनेवाले, [अचेतन] अचेतन-चेतनारहित, [परदेह] दूसरे के शरीर को, [स्वदेह सदृशं] अपने शरीर समान [दृष्ट्वा] देखकर, [परत्वेन] अन्य के आत्मारूप से, [अध्यवस्यति] मानता है ।

इस अध्यवसाय का परिणाम

स्वपराध्यवसायेन देहेष्वविदितात्मनाम्

वर्तते विभ्रमः पुंसां पुत्रभार्यादिगोचरः ॥11॥

कहै देह को आत्मा, नहीं स्व-पर पहचान ।

विभ्रमवश तन में करे, सुत-तियादि का ज्ञान ॥११॥

अन्वयार्थ : [अविदितात्मना पुंसां] आत्मा के स्वरूप से अज्ञात पुरुषों को, [देहेषु] शरीरों में, [स्वपराध्यवसायेन] अपनी और पर की आत्मबुद्धि के कारण से, [पुत्रभार्यादिगोचर] पुत्र-स्त्री आदि के विषय में, [विभ्रम वर्तते] विभ्रम वर्तता है ।

अविद्या के संस्कार से जन्मान्तर में भी मूढ़ता

अविद्यासंज्ञितस्तस्मात् संस्कारो जायते दृढः

येन लोकोऽङ्गमेव स्वं पुनरप्यभिमन्यते ॥12॥

इस भ्रम से अज्ञानमय, जमते दृढ़ संस्कार ।

यों मोही भव-भव करें, तन में निज निर्धार ॥१२॥

अन्वयार्थ : [तस्मात्] इस विभ्रम से, [अविद्यासंज्ञित] अविद्या नाम का [संस्कारः] संस्कार [दृढः] दृढ़-मजबूत [जायते] होता है [येन] जिस कारण से [लोकोः] अज्ञानी जीव, [पुनः अपि] जन्मान्तर में भी [अंगमूएव] शरीर को ही [स्वं अभिमन्यते] आत्मा मानता है ।

बहिरात्मा और अन्तरमा का दृष्टिकोण भिन्न

देहे स्वबुद्धिरात्मानं युनक्त्येतेन निश्चयात्

स्वात्मन्येवात्मधीस्तस्माद्वियोजयति देहिनम् ॥13॥

देहबुद्धिजन आत्म का, तन से करें सम्बन्ध ।

आत्मबुद्धि नर स्वात्म का, तन से तजे सम्बन्ध ॥१३॥

अन्वयार्थ : [देहे स्वबुद्धि] शरीर में आत्मबुद्धि करनेवाला बहिरात्मा, [निश्चयात्] निश्चय से [आत्मानं] अपने आत्मा को [एतेन] उसके (शरीर के) साथ [युनक्ति] जोड़ता (सम्बन्ध करता) है (दोनों को एकरूप मानता है), परन्तु [स्वात्मनि एव आत्मधी] अपने आत्मा में ही आत्मबुद्धि करनेवाला अन्तरात्मा, [देहिन] अपने आत्मा को [तस्मात्] उससे (शरीर से) [वियोजयति] पृथक् / भिन्न करता है ।

ममकार पतन का कारण

देहेष्वात्मधिया जाताः पुत्रभार्यादिकल्पनाः

सम्पत्तिमात्मनस्ताभिर्मन्यते हा हतं जगत् ॥14॥

जब तन में निज कल्पना, 'मम सुत-तिय' यह भाव ।

परिग्रह मानो आपनो, हाय! जगत् दुर्भाव ॥१४॥

अन्वयार्थ : [देहेषु] शरीरों में [आत्मधिया] आत्मबुद्धि से, [पुत्र- भार्यादिकल्पना जाता:] मेरा पुत्र, मेरी स्त्री इत्यादिक कल्पनाएँ उत्पन्न होती हैं । [हा] खेद है कि [हत] आत्मघाती [जगत्] सारा संसार, [ताभि] उस कारण से, [सम्पत्तिम्] स्त्री-पुत्रादि की समृद्धि को, [आत्मनः] अपनी समृद्धि [मन्यते] मानते हैं ।

उपसंहार

मूलं संसारदुःखस्य देह एवात्मधीस्ततः

त्यक्त्वैनां प्रविशेदन्त - बहिरव्यापृतेन्द्रियः ॥15॥

जग में दुःख का मूल है, तन में निज का ज्ञान ।

यह तज विषय-विरक्त हो, लो निजात्म में स्थान ॥१५॥

अन्वयार्थ : [देहे] शरीर में [आत्मधी एव] आत्मबुद्धि होना, वही [संसार दुःखस्य] संसार के दुःख का [मूल] कारण है; [ततः] इसलिए [एना] शरीर में आत्मबुद्धि को [त्यक्त्वा] छोड़कर तथा [बहिरव्यापृतेन्द्रिय] बाह्य विषयों में इन्द्रियों की प्रवृत्ति को रोककर, [अन्तः] अन्तरङ्ग (आत्मा / स्व) में [प्रविशेत्] प्रवेश करो ।

अंतरात्मा को पूर्व की बहिरात्मदशा का खेद

मत्तश्च्युत्वेन्द्रियद्वारैः पतितो विषयेष्वहम्

तान् प्रपद्याऽहमिति मां पुरा वेद न तत्त्वतः ॥16॥

इन्द्रिय-विषय विमुग्ध हो, उनको हितकर जान ।

'मैं आत्मा हूँ' नहीं लखा, भूल गया निज-भान ॥१६॥

अन्वयार्थ : [अहं] मैं [पुरा] अनादि काल से [मत्तः] आत्मस्वरूप से [स्तुत्वा] विस्मृत होकर [इन्द्रिय द्वारै] इन्द्रियों द्वारा [विषयेषु] विषयों में [पतितः] पतित हुआ, [ततः] इससे [तान्] उन विषयों को [प्रपद्य] प्राप्त करके [तत्त्वतः] वास्तव में [मां] मुझे स्वयं को [अहं इति न वेद] मैं वही हूँ- आत्मा हूँ - ऐसा मैंने पहिचाना नहीं ।

आत्मा को जानने का उपाय

एवं त्यक्त्वा बहिर्वाचं त्यजेदन्तरशेषतः

एष योगः समासेन प्रदीपः परमात्मनः ॥17॥

बाहिर वचन विलास तज, तज अन्तर मन भोग ।

है परमात्म प्रकाश का, थोड़े में यह योग ॥१७॥

अन्वयार्थ : [एवं] आगामी श्लोक में कही जानेवाली विधि के अनुसार [बहिर्वाच] बाह्य अर्थवाचक वचन-प्रवृत्ति को [त्यक्त्वा] त्याग करके [अन्तः] अन्तरङ्ग वचन-प्रवृत्ति को भी [अशेषत] सम्पूर्णपने [त्यजेत्] तजना । [एषः] यह [योगः] योग, अर्थात् समाधि [समासेन] संक्षिप्त में [परमात्मन] परमात्मस्वरूप का [प्रदीपः] प्रकाशक दीपक है ।

वचन-प्रवृत्ति का त्याग

यन्मया दृश्यते रूपं तन्न जानाति सर्वथा

जानन्न दृश्यते रूपं ततः केन ब्रवीम्यहम् ॥18॥

रूप मुझे जो दीखता, वह तो जड़ अनजान ।

जो जाने नहीं दीखता, बोलूँ किससे बान ॥१८॥

अन्वयार्थ : [मया] मेरे द्वारा [यस्जपं] जो रूप-शरीरादि रूपी-पदार्थ [दृश्यते] दिखायी देते हैं, [तत्] वे अचेतन पदार्थ [सर्वथा] सर्वथा [न जानाति] किसी को नहीं जानते, और [जानत् रूपं न दृश्यते] जो जाननेवाला चेतन आत्मा है वह अरूपी होने से मुझे दिखायी नहीं देता [तत् अहं केन सह ब्रवीमि] तो मैं किसके साथ बातचीत करूँ ।

विकल्पों का त्याग

यत्परैः प्रतिपाद्योऽहं यत्परान् प्रतिपादये

उन्मत्तचेष्टितं तन्मे यदहं निर्विकल्पकः ॥19॥

अन्य मुझे उपदेश दे, मैं उपदेशुं अन्य ।

यह मम चेष्टा मत्तसम, मैं अविकल्प अनन्य ॥१९॥

अन्वयार्थ : [परैः अहं प्रतिपाद्यः] अन्य के द्वारा मैं कुछ सीखनेयोग्य हूँ (अन्य उपाध्यायादि मुझे कुछ सिखाते हैं) अथवा [अहं पराम् प्रतिपाद्ये] मैं किसी अन्य को कुछ सिखाता हूँ या सिखा सकता हूँ (यदि मैं ऐसा विकल्प करता हूँ) [तत् मे उन्मत्तचेष्टितं] तो वह मेरी पागलपन की चेष्टा है [यत् अहं निर्विकल्पकः] क्योंकि मैं तो निर्विकल्पक हूँ (वचन-विकल्पों से अग्राह्य हूँ) ।

निर्विकल्प स्वरूप

यदग्राह्यं न गृह्णाति गृहीतं नैव मुञ्चति

जानाति सर्वथा सर्वं तत्स्वसंवेद्यमस्म्यहम् ॥20॥

बाह्य पदार्थ नहीं ग्रहे, नहीं छोड़े निजभाव ।

सबको जानेमात्र वह, स्वानुभूति से ध्याव ॥२०॥

अन्वयार्थ : [यत्] जो (शुद्ध आत्मस्वरूप) [अग्राह्य] अग्राह्य (द्रव्य-भाव-नोकर्म) को [न गृह्णाति] ग्रहण नहीं करता, और [गृहीत अपि] ग्रहण किए हुए (अनन्त ज्ञानादि गुणों) को [न एव मुञ्चति] भी नहीं छोड़ता तथा [सर्व] सम्पूर्ण पदार्थों को [सर्वथा] सर्व प्रकार (द्रव्य-गुण-पर्यायरूप) से [जानाति] जानता है [तत् स्वसंवेद्य], वह अपने अनुभव में आनेयोग्य चेतनद्रव्य [अहं अस्मि] मैं हूँ ।

आत्मज्ञान के पूर्व चेष्टा

उत्पन्नपुरुषभ्रान्तेः स्थाणौ यद्विचेष्टितम्

तद्वन्मे चेष्टितं पूर्वं देहादिष्वात्मविभ्रमात् ॥21॥

करें स्तम्भ में पुरुष की, भ्रान्ति यथा अनजान ।

त्यों भ्रमवश तन आदि में, कर लेता निजभान ॥२१॥

अन्वयार्थ : [स्थाणौ] वृक्ष के ठूठ में [उत्पन्नपुरुषभ्रान्ते] उत्पन्न हो गयी है पुरुषपने की भ्रान्ति जिसको - ऐसे मनुष्य को [यद्वत्] जिस प्रकार [विचेष्टितम्] विकृत अथवा विपरीत चेष्टा होती है; [तद्वत्] उसी प्रकार की [देहादिषु] शरीरादिक पर-पदार्थों में [आत्मविभ्रमात्] आत्मा का भ्रम होने से, [पूर्वं] आत्मज्ञान से पहले [मे] मेरी [चेष्टितम्] चेष्टा थी ।

वर्तमान में चेष्टा

यथासौ चेष्टते स्थाणौ निवृत्ते पुरुषाग्रहे

तथा चेष्टोऽस्मि देहादौ विनिवृत्तात्मविभ्रमः ॥22॥

भ्रम तज नर उस स्तम्भ में, नहीं होता हैरान ।

त्यों तनादि में भ्रम हटे, नहीं पर में निजभान ॥२२॥

अन्वयार्थ : [असौ] जिसको वृक्ष के ठूठ में पुरुष का भ्रम हो गया था, वह मनुष्य [स्थाणौ] ठूठ में [पुरुषाग्रहे निवृत्ते] 'यह पुरुष है' - ऐसे मिथ्याभिनिवेश के नष्ट हो जाने पर, [यथा] जिस प्रकार उससे अपने उपकारादि की कल्पना त्यागने की [चेष्टते] चेष्टा करता है; उसी प्रकार [देहादौ] शरीरादिक में [विनिवृत्तात्मविभ्रम] आत्मपने के भ्रम से रहित हुआ मैं भी, [तथा चेष्ट अस्मि] देहादिक में अपने उपकारादि की बुद्धि को छोड़ने में प्रवृत्त हुआ हूँ ।

अखण्ड स्वरूप

येनात्मनाऽनुभूयेऽह - मात्मनैवात्मनाऽऽत्मनि

सोऽहं न तन्न सा नासौ नैको न द्वौ न वा बहुः ॥23॥

आत्मा को ही निज गिन्नूँ नहीं नारी-नर-षण्ड ।

नहीं एक या दो बहुत, मैं हूँ शुद्ध अखण्ड ॥२३॥

अन्वयार्थ : [येन] जिस [आत्मना] आत्मा से-चैतन्य-स्वरूप से [अहम्] मैं [आत्मनि] अपनी आत्मा में ही [आत्मना] आत्मा द्वारा - स्व-संवेदनज्ञान के द्वारा [आत्मनैव] अपनी आत्मा को आप ही [अनुभूये] अनुभव करता हूँ [सः] वही - शुद्धात्म-स्वरूप [अहं] मैं, [न तत्] न तो नपुंसक हूँ [न सा] न स्त्री हूँ [न असौ] न पुरुष हूँ [न एको] न एक हूँ [न द्वौ] न दो हूँ [वा] और [न बहुः] न बहुत हूँ ।

जाग्रत अवस्था में आत्मा मात्र स्व-संवेदन गम्य

यदभावे सुषुप्तोऽहं यद्भावे व्युत्थितः पुनः

अतीन्द्रियमनिर्देश्यं तत्स्वसंवेद्यमस्म्यहम् ॥24॥

बोधि बिना निद्रित रहा, जगा लखा चैतन्य ।

इन्द्रियबिना अव्यक्त हूँ, स्व-संवेदन गम्य ॥२४॥

अन्वयार्थ : [यत् अभावे] जिस शुद्धात्म-स्वरूप के प्राप्त न होने से [अहं] मैं [सुषुप्तः] अब तक गाढ निद्रा में पड़ा रहा - मुझे पदार्थों का यथार्थ परिज्ञान न हो सका - [पुनः] और [यत् भावे] जिस शुद्धात्म-स्वरूप की उपलब्धि होने पर, मैं [व्युत्थितः] जागृत हुआ हूँ - यथावत् वस्तु-स्वरूप को जानने लगा हूँ [तत्] वह शुद्धात्म-स्वरूप [अतीन्द्रिय] इन्द्रियों के द्वारा ग्राह्य नहीं है [अनिर्देश्यं] वचनों के भी अगोचर है - कहा नहीं जाता । वह तो [स्वसंवेद्य] अपने द्वारा आप ही अनुभव करने योग्य है । उसीरूप [अहं अस्मि] मैं हूँ ।

आत्मानुभव करने वाले के राग-द्वेष का अभाव

क्षीयन्तेऽत्रैव रागाद्यास्तत्त्वतो मां प्रपश्यतः

बोधात्मानं ततः कश्चिन्न मे शत्रुर्न च प्रियः ॥25॥

जब अनुभव अपना करूँ, हों अभावरागादि ।

मैं ज्ञाता, मेरे नहीं, कोई अरि-मित्रादि ॥२५॥

अन्वयार्थ : [यतः] क्योंकि [बोधात्मान] शुद्ध ज्ञानस्वरूप [मां] मुझ आत्मा का [तत्त्वतः प्रपश्यत] वास्तव में अनुभव करानेवाले के [अत्र एव] इस जन्म में ही [रागाद्य] राग, द्वेष, क्रोध, मान, मायादिक दोष [क्षीयन्ते] नष्ट हो जाते हैं; [ततः] इसलिए [मे] मेरा [न कश्चित्] न कोई [शत्रुः] शत्रु है [न च] और न कोई [प्रियः] मित्र है ।

अन्य कोई भी मेरे शत्रु और मित्र नहीं

मामपश्यन्नयं लोको न मे शत्रुर्न च प्रियः

मां प्रपश्यन्नयं लोको न मे शत्रुर्न च प्रियः ॥ 26॥

जो मुझको जाने नहीं, नहीं मेरा अरि मित्र ।

जो जाने मम आत्म को, नहीं शत्रु नहीं मित्र ॥२६॥

अन्वयार्थ : [मां] मेरे आत्म-स्वरूप को [अपश्यन्] नहीं देखता हुआ, [अयं लोकः] यह अज्ञ प्राणि-वृन्द [नमेशत्रु] न मेरा शत्रु है [न च प्रिय] और न मित्र है तथा [मां] मेरे आत्म-स्वरूप को [प्रपश्यन्] देखता हुआ [अयं लोकः] यह प्रबुद्ध प्राणिगण, [न मे शत्रुः] न मेरा शत्रु है [न च प्रियः] और न मित्र है ।

अंतरात्मा का कर्तव्य

त्यक्तैवं बहिरात्मान - मन्तरात्मव्यवस्थितः

भावयेत् परमात्मानं सर्वसङ्कल्पवर्जितम् ॥27॥

यों बहिरात्म दृष्टि तज, हो अंतर-मुख आत्म ।

सर्व विकल्प विमुक्त हो, ध्यावे निज परमात्म ॥२७॥

अन्वयार्थ : [एवं] इस प्रकार [बहिरात्मान] बहिरात्मपने को [त्यक्तवा] छोड़कर, [अंतरात्मव्यवस्थित] अन्तरात्मा में स्थित होते हुए [सर्वसंकल्पवर्जित] सर्व सङ्कल्प विकल्पों से रहित [परमात्मान] परमात्मा को [भावयेत्] ध्याना चाहिए ।

सोऽहमित्यात्तसंस्कारस्तस्मिन् भावनया पुनः

तत्रैव दृढसंस्काराल्लभते ह्यात्मनि स्थितिम् ॥२८॥

'मैं ही वह परमात्म हूँ', हों जब दृढ़ संस्कार ।

इन दृढ़ भावों से बने, निश्चय उस आकार ॥२८॥

अन्वयार्थ : [तस्मिन्] उस परमात्मपद में [भावनया] भावना करते रहने से [सः अहं] वह अनन्त ज्ञान-स्वरूप परमात्मा मैं हूँ [इति] इस प्रकार के [आत्तसंस्कार] संस्कार को प्राप्त हुआ ज्ञानी पुरुष [पुनः] फिर-फिर उस परमात्मपद में आत्म-स्वरूप की भावना करता हुआ [तत्रैव] उसी परमात्म-स्वरूप में [दृढसंस्कारात्] संस्कार की दृढ़ता हो जाने से [हि] निश्चय से [आत्मनि] अपने शुद्ध चैतन्य-स्वरूप में [स्थिति लभते] स्थिरता को प्राप्त होता है ।

अज्ञानी का भय भी विपरीत

मूढात्मा यत्र विश्वस्तस्ततो नान्यद्भयास्पदम्

यतो भीतस्ततो नान्यदभयस्थानमात्मनः ॥२९॥

मोही की आशा जहाँ, नहीं वैसा भय-स्थान ।

जिसमें डर उस सम नहीं, निर्भय आत्म-स्थान ॥२९॥

अन्वयार्थ : [मूढात्मा] अज्ञानी बहिरात्मा [यत्र] जिन (शरीर-पुत्र-मित्रादि) पदार्थों में [विश्वस्तः] ('ये मेरे हैं, मैं इनका हूँ' - ऐसा) विश्वास करता है, [ततः] उन (शरीर-स्त्री -पुत्रादि बाह्य-पदार्थों) से, [अन्यत्] अन्य कोई [भयास्पदं न] भय का स्थान नहीं है और [यतः] जिस (परमात्म-स्वरूप के अनुभव) से [भीतः] डरा रहता है, [ततः अन्यत्] उसके सिवाय कोई दूसरा [आत्मनः] आत्मा के लिए [अभयस्थानं न] निर्भयता का स्थान नहीं है ।

आत्म-स्वरूप की प्राप्ति

सर्वेन्द्रियाणि संयम्य स्तिमितेनान्तरात्मना

यत्क्षणं पश्यतो भाति तत्तत्त्वं परमात्मनः ॥३०॥

इन्द्रिय विषय विरक्त हो, स्थिर हो निज में आत्म ।

उस क्षण जो अनुभव वही, है निश्चय परमात्म ॥३०॥

अन्वयार्थ : [सर्वेन्द्रियाणि] सम्पूर्ण पाँचों इन्द्रियों को [संयम्य] अपने विषयों में यथेष्ट प्रवृत्ति करने से रोककर [स्तिमितेन] स्थिर हुए [अन्तरात्मना] अन्तःकरण के द्वारा [क्षण पश्यतः] क्षणमात्र के लिए अनुभव करनेवाले जीव के [यत्] जो चिदानन्दस्वरूप [भाति] प्रतिभासित होता है, [तत्] वही [परमात्मन] परमात्मा का [तत्त्वं] स्वरूप है ।

मैं ही परमात्मा

यः परात्मा स एवाऽहं योऽहं स परमस्ततः

अहमेव मयोपास्यो नान्यःकश्चिदिति स्थितिः ॥३१॥

मैं ही वह परमात्म हूँ, हूँ निज अनुभव-गम्य ।

मैं उपास्य अपना स्वयं, निश्चय है नहीं अन्य ॥३१॥

अन्वयार्थ : [यः] जो [परात्मा] परमात्मा है, [स एव] वह ही [अहं] मैं हूँ तथा [यः] जो स्वानुभवगम्य [अहं] मैं हूँ [सः] वही [परमः]

परमात्मा है, [ततः] इसलिए, जबकि परमात्मा और आत्मा में अभेद है, [अहं एव] मैं ही [मया] मेरे द्वारा [उपास्य] उपासना किये जाने के योग्य हूँ [कश्चित् अन्यः न], दूसरा कोई मेरा उपास्य नहीं [इति स्थितिः] - ऐसी वस्तु-स्थिति है ।

प्रच्याव्य विषयेभ्योऽहं मां मयैव मयि स्थितम्

बोधात्मानं प्रपन्नोऽस्मि परमानन्दनिर्वृतम् ॥३२॥

निज में स्थित निज आत्मकर, करमन विषयातीत ।

पाता निजबल आत्म वह, परमानन्द पुनीत ॥३२॥

अन्वयार्थ : [मां] मुझे (मुझ आत्मा को) [विषयेभ्यः] पंद्रियों के विषयों से [प्रच्याव्य] हटाकर, [मयैव] मेरे द्वारा ही (अपने ही आत्मा द्वारा) [अहं] मैं [मयि स्थितं] मुझमें स्थित [परमानन्दनिर्वृतम्] परमानन्द से परिपूर्ण [बोधात्मानम्] ज्ञानस्वरूप आत्मा को [प्रपन्नोऽस्मि] को प्राप्त हुआ हूँ ।

भेद-विज्ञान रहित के घोर तपस्या भी व्यर्थ

यो न वेत्ति परं देहादेवमात्मानमव्ययम्

लभते स न निर्वाणं तप्त्वाऽपि परमं तपः ॥३३॥

तन से भिन्न-गिने नहीं, अव्ययरूप निजात्म ।

करे उग्र तप मोक्ष नहीं, जब तक लखे न आत्म ॥३३॥

अन्वयार्थ : [एवं] उक्त प्रकार से [यः] जो [अव्यय] अविनाशी [आत्मानं] आत्मा को [देहात्] शरीर से [परं न वेत्ति] भिन्न नहीं जानता है, [सः] वह [परमं तपः तप्त्वापि] घोर तपश्चरण करके भी [निर्वाण] मोक्ष को [न लभते] प्राप्त नहीं करता है ।

भेद-विज्ञानी को तप में खेद नहीं

आत्मदेहान्तरज्ञान - जनिताह्लादनिर्वृतः

तपसा दुष्कृतं घोरं भुञ्जानोऽपि न खिद्यते ॥३४॥

भेदज्ञान बल है जहाँ, प्रगट आत्म आह्लाद ।

हो तप दुष्कर घोर पर, होता नहीं विषाद ॥३४॥

अन्वयार्थ : [आत्मदेहान्तरज्ञानजनिताह्लादनिर्वृतः] आत्मा और शरीर के भेद-विज्ञान से उत्पन्न हुए आनन्द से जो आनन्दित है, वह [तपसा] (द्वादश प्रकार के) तप के द्वारा उदय में लाए हुए [दुष्कृतं घोरं] भयानक दुष्कर्मों के फल को [भुञ्जानोऽपि] भोगता हुआ भी [न खिद्यते] खेद को प्राप्त नहीं होता है ।

निस्तरंग चित्त को ही आत्म-दर्शन

रागद्वेषादिकल्लोलैरलोलं यन्मनोजलम्

स पश्यत्यात्मनस्तत्त्वं तत् तत्त्वं नेतरो जनः ॥३५॥

चञ्चल चित्त लहे न जब, रागरु द्वेष हिलोर ।

आत्म-तत्त्व वह ही लखे, नहीं क्षुब्ध नर ओर ॥३५॥

अन्वयार्थ : [यन्मनोजलम्] जिसका मनरूपी जल [राग-द्वेषादिक छौलै] राग-द्वेष-काम-क्रोध-मान-माया-लोभादि तरङ्गों से [अलोलं] चञ्चल नहीं होता, [सः] वही पुरुष, [आत्मनः तत्त्वम्] आत्मा के यथार्थ स्वरूप को [पश्यति] देखता (अनुभवता) है [सः तत्त्वम्] उस आत्म-तत्त्व को [इतरोजन] दूसरा राग-द्वेषादि कल्लोलों से आकुलितचित्त मनुष्य [न पश्यति] नहीं देख सकता है ।

भेद-ज्ञान से रहित आत्मानुभव एक भ्रान्ति

अविक्षिप्तं मनस्तत्त्वं विक्षिप्तं भ्रान्तिरात्मनः

धारयेत्तदविक्षिप्तं विक्षिप्तं नाश्रयेत्ततः ॥३६॥

निश्चल मन ही तत्त्व है, चञ्चलता निज-भ्रान्ति ।

स्थिर में स्थिरता राखि, तज अस्थिर मूल अशान्ति ॥३६॥

अन्वयार्थ : [अविक्षिप्त] रागादि परिणति से रहित तथा शरीर और आत्मा को एक माननेरूप मिथ्या अभिप्राय से रहित, जो स्वरूप में स्थिर है, [मनः] वही मन है, [आत्मनः तत्त्व] आत्मा का वास्तविक रूप है और [विक्षिप्त] रागादिरूप परिणत हुआ एवं शरीर तथा आत्मा के भेदज्ञान से शून्य मन है, वह [आत्मनः भ्रान्तिः] आत्मा का विभ्रम है; आत्मा का निजरूप नहीं है; [ततः] इसलिए तत् [अविक्षिप्त] उस राग-द्वेषादि से रहित मन को [धारयेत्] धारण करना चाहिए और [विक्षिप्त] राग-द्वेषादि से क्षुब्ध हुए मन को [न आश्रयेत्] आश्रय नहीं देना चाहिए ।

भेद-विज्ञान के बिना विक्षिप्त चित्त में राग-द्वेष

अविद्याभ्याससंस्कारै - रवशं क्षिप्यते मनः

तदेवज्ञानसंस्कारैः स्वतस्तत्त्वेऽवतिष्ठते ॥३७॥

हों संस्कार अज्ञानमय, निश्चय हो मन भ्रान्त ।

ज्ञान संस्कृत मन करे, स्वयं तत्त्व विश्रान्ति ॥३७॥

अन्वयार्थ : [अविद्याभ्याससंस्कारै] शरीरादिक को शुचि, स्थिर और आत्मीय माननेरूप जो अविद्या / अज्ञान है, उसके पुनः पुनः प्रवृत्तिरूप अभ्यास से उत्पन्न हुए संस्कारों द्वारा [मनः] मन [अवश] स्वाधीन न रहकर, [क्षिप्यते] विक्षिप्त हो जाता है, रागी-द्वेषी बन जाता है और [तदेव] वही मन [ज्ञानसंस्कारै] आत्म-देह के भेद -विज्ञानरूप संस्कारों द्वारा [स्वतः] स्वयं ही [तत्त्वे] आत्म-स्वरूप में [अवतिष्ठते] स्थिर हो जाता है ।

विक्षिप्त चित्त को ही मान-अपमान

अपमानादयस्तस्य विक्षेपो यस्य चेतसः

नापमानादयस्तस्य न क्षेपो यस्य चेतसः ॥३८॥

चंचल-मन गिनता सदा, मान और अपमान ।

निश्चल-मन देता नहीं, तिरस्कार पर ध्यान ॥३८॥

अन्वयार्थ : [यस्य चेतस] जिसके चित्त का [विक्षेपः] रागादिरूप परिणमन होता है, [तस्य] उसी के [अपमानादय] अपमानादिक होते हैं; [यस्यचेतसः] जिसके चित्त का [क्षेपः न] राग-द्वेषादिरूप परिणमन नहीं होता, [तस्य] उसके [अपमानादय न] अपमान-तिरस्कारादि नहीं होते हैं ।

शुद्ध-आत्म स्वरूप की भावना द्वारा अपमानादि दूर

यदा मोहात्प्रजायेते रागद्वेषौ तपस्विनः

तदैव भावयेत्स्वस्थमात्मानं शाम्यतः क्षणात् ॥३९॥

मोह-दृष्टि से जब जगे, मुनि को राग रु द्वेष ।

स्वस्थ-भावना आत्म से, मिटे क्षणिक उद्वेग ॥३९॥

अन्वयार्थ : [यदा] जिस समय [तपस्विन] किसी तपस्वी अन्तरात्मा के [मोहात्] मोहनीय कर्म के उदय से [राग-द्वेषौ] राग और द्वेष [प्रजायेते] उत्पन्न हो जावें, [तदा एव] उसी समय वह तपस्वी [स्वस्थ आत्मानं] अपने शुद्ध आत्मस्वरूप की [भावयेत्] भावना करे । इससे वे राग-द्वेषादिक [क्षणात्] क्षणभर में [शाम्यत] शान्त हो जाते हैं ।

शरीर और इन्द्रिय विषयों से प्रेम नाश का उपाय

यत्र काये मुनेः प्रेम ततः प्रच्याव्य देहिनम्

बुद्ध्या तदुत्तमे काये योजयेत्प्रेम नश्यति ॥४०॥

हे मुनि! तन से प्रेम यदि, धारो भेद-विज्ञान ।

चिन्मय-तन से प्रेम कर, तजो प्रेम अज्ञान ॥४०॥

अन्वयार्थ : [यत्र काये] जिस शरीर में [मुनेः] मुनि (अन्तरात्मा) का [प्रेम] प्रेम-स्नेह है, [ततः] उससे [बुद्ध्या] भेद-विज्ञान के आधार पर [देहिनम्] आत्मा को [प्रव्याव्य] पृथक् करके [तदुत्तमे काये] उस उत्तम चिदानन्दमय काय में (आत्म-स्वरूप में) [योजयेत्] लगाने से [प्रेम नश्यति] बाह्य शरीर और इन्द्रिय विषयों में होनेवाला प्रेम नष्ट हो जाता है ।

भेद-विज्ञान द्वारा ही शरीर में आत्म-बुद्धि दूर होती है

आत्म - विभ्रमजं दुःखमात्मज्ञानात्प्रशाम्यति

नाऽयतास्तत्र निर्वान्ति कृत्वाऽपि परमं तपः ॥४१॥

आत्म-भ्रान्ति से दुःख हो, आत्म-ज्ञान से शांत ।

इस बिन शान्ति न हो भले, कर ले तप दुर्दांत ॥४१॥

अन्वयार्थ : [आत्मविभ्रज] शरीरादिक में आत्मबुद्धिरूप विभ्रम से उत्पन्न होनेवाला [दुःखं] दुख (कष्ट), [आत्मज्ञानात्] शरीरादिक से भिन्नरूप आत्म-स्वरूप के अनुभव से [प्रशाम्यति] ही शान्त होता है । [तत्र] उस (भेदविज्ञान) के [अयता] प्रयत्न बिना [परमं] उत्कृष्ट एवं दुर्द्धर [तपः] तप को [कृत्वापि] करके भी, [न निर्वान्ति] निर्वाण नहीं होता है ।

अज्ञानी और ज्ञानी के तप करने के प्रयोजन में भेद

शुभं शरीरं दिव्यांश्च विषयानभिवाञ्छति

उत्पन्नाऽऽत्ममतिर्देहे तत्त्वज्ञानी ततश्च्युतिम् ॥४२॥

तन तन्मय ही चाहता, सुन्दर-तन सुर-भोग ।

ज्ञानी चाहे छूटना, विषय-भोग संयोग ॥४२॥

अन्वयार्थ : [देहेऽत्पन्नात्ममति] शरीर में जिसको आत्म-बुद्धि उत्पन्न है - ऐसा बहिरात्मा, तप करके [शुभं शरीरं] सुन्दर शरीर और [दिव्यान्विषयान्] उत्तमोत्तम अथवा स्वर्ग के विषय भोगों को [अभिवाञ्छति] चाहता है और [तत्त्वज्ञानी] ज्ञानी अन्तरात्मा [ततः] उन शरीर और तत्सम्बन्धी विषयों से [स्मृतिम्] छूटना चाहता है ।

अज्ञानी कर्म से बंधता है और ज्ञानी मुक्त होता है

परत्राहम्मतिः स्वस्माच्च्युतो बध्नात्यसंशयम्

स्वस्मिन्नहम्मतिश्च्युत्वा परस्मान्मुच्यते बुधः ॥४३॥

स्व से च्युत, पर-मुग्ध नर, बँधता, पर-संग आप ।

पर से च्युत, निज-मुग्ध बुध, हरे कर्म-सन्ताप ॥४३॥

अन्वयार्थ : [परत्राहम्मति] शरीरादिक पर-पदार्थों में जिसकी आत्मबुद्धि हो रही है - ऐसा बहिरात्मा [स्वस्मात्] अपने आत्म-स्वरूप से [च्युतः] भ्रष्ट हुआ [असंशयम्] निःसन्देह [बध्नाति] बंधता है और [स्वस्मिन्नहम्मति] आत्मास्वरूप में ही आत्मबुद्धि रखनेवाला [बुधः] अन्तरात्मा, [परस्मात्] शरीरादिक पर के संग से [स्तुत्वा] स्मृत होकर [मुच्यते] मुक्त होता है ।

आत्मा को लेकर अज्ञानी और ज्ञानी में दृष्टि भेद

दृश्यमानमिदं मूढस्त्रिलिङ्गमवबुध्यते

इदमित्यवबुद्धस्तु निष्पन्नं शब्दवर्जितम् ॥ ४४ ॥

दिखते त्रय तन चिह्न को, मूढ़ कहे निजरूप ।

ज्ञानी माने आपको, वचन बिना चिद्रूप ॥४४॥

अन्वयार्थ : [मूढः] अज्ञानी बहिरात्मा, [इदं दृश्यमान] इस दिखायी देनेवाले शरीर को [त्रिलिङ्ग अवबुध्यते] स्त्री-पुरुष-नपुंसक के भेद से

यह आत्मतत्त्व, त्रिलिङ्गरूप है - ऐसा मानता है, किन्तु [अवबुद्ध] आत्मज्ञानी अन्तरात्मा, [इदं] ' यह आत्मतत्त्व है, वह त्रिलिङ्गरूप नहीं है [तु] परन्तु वह [निष्पन्न] अनादि संसिद्ध तथा [शब्दवर्जितम्] नामादिक विकल्पों से रहित है ' [इति] - ऐसा समझता है ।

अभेदरूप भ्रान्ति का कारण

जानन्नप्यात्मनस्तत्त्वं विविक्तं भावयन्नपि

पूर्वविभ्रमसंस्काराद् भ्रान्तिं भूयोऽपि गच्छति ॥45॥

आत्मविज्ञ यद्यपि गिने, जाने तन-जिय भिन्न ।

पर विभ्रम संस्कारवश, पड़े भ्रान्ति में खिन्न ॥४५॥

अन्वयार्थ : अन्तरात्मा [आत्मनः तत्त्व] अपने आत्मा के शुद्ध चैतन्यस्वरूप को [जानन् अपि] जानता हुआ भी [विविक्त भावयन् अपि] और शरीरादिक अन्य पर- पदार्थों से भिन्न अनुभव करता हुआ भी, [पूर्वविभ्रमसंस्कारात्] पहली बहिरात्मावस्था में होनेवाली भ्रान्ति के संस्कारवश [भूयोऽपि] पुनरपि [भ्रान्ति गच्छति] भ्रान्ति को प्राप्त हो जाता है ।

अन्तरात्मा भ्रान्ति को कैसे दूर करता है?

अचेतनमिदं दृश्यमदृश्यं चेतनं ततः

क्व रुष्यामि क्व तुष्यामि मध्यस्थोऽहं भवाम्यतः ॥46॥

जो दिखते चेतन नहीं, चेतन गोचर नाहिं ।

रोष-तोष किससे करूँ, हूँ तटस्थ निज माँहि ॥४६॥

अन्वयार्थ : [इदं दृश्यं] यह जो दृष्टिगोचर होनेवाला पदार्थ-समूह है, वह समस्त ही [अचेतन] चेतनारहित-जड़ है और जो [चेतन] चैतन्यरूप आत्मा है, वह [अदृश्य] इन्द्रियों के द्वारा दिखायी नहीं पड़ता; [ततः] इसलिए वह [क्व रुष्यामि] मैं किस पर तो क्रोध करूँ और [क्व तुष्यामि] किस पर सन्तोष व्यक्त करूँ? [अतः अहं मध्यस्थ भवामि] अतः मैं तो अब राग-द्वेष के परित्यागरूप मध्यस्थभाव को धारण करता हूँ ।

तीनों प्रकार के आत्मा के ग्रहण त्याग में भेद

त्यागादाने बहिर्मूढः करोत्यध्यात्ममात्मवित्

नान्तर्बहिरुपादानं न त्यागो निष्ठितात्मनः ॥47॥

बाहर से मोही करे, अन्दर अन्तर-आत्म ।

दृढ़ अनुभववाला नहीं, करे ग्रहण और त्याग ॥४७॥

अन्वयार्थ : [मूढः] मूर्ख (बहिरात्मा) [बहिः] बाह्य-पदार्थों का [त्यागादाने करोति] त्याग और ग्रहण करता है; [आत्मवित्] आत्माज्ञानी [अध्यात्म त्यागादाने करोति] अन्तरङ्ग में त्याग-ग्रहण (राग-द्वेष का त्याग और अपने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप निजभावों को ग्रहण) करता है परन्तु [निष्ठितात्मनः] शुद्धस्वरूप में स्थित के [अन्तर्बहिः] अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग (किसी भी पदार्थ) का [न त्यागः] न तो त्याग और [न उपादान] न ग्रहण होता है ।

अन्तरात्मा का ग्रहण-त्याग

युज्जीत मनसाऽऽत्मानं वाक्कायाभ्यां वियोजयेत्

मनसा व्यवहारं तु त्यजेद्वाक्काययोजितम् ॥48॥

जोड़े मन संग आत्मा, वचन-काय से मुक्त ।

वचन-काय व्यवहार में, जोड़े न मन हो युक्त ॥४८॥

अन्वयार्थ : [आत्मानं] आत्मा को [मनसा] मन के साथ [युज्जीत] संयोजित करे (चित्त और आत्मा का अभेदरूप से अध्यवसाय करे), [वाक्कायाभ्यां] वचन और काय से [वियोजयेत्] अलग करे - उन्हें आत्मा न समझे [तु] और [वाक्काययोजितम्] वचन-काय से किए हुए

[व्यवहार] व्यवहार को [मनसा] मन से [त्यजेत्] छोड़ देवे; उसमें चित्त को न लगावे ।

स्त्री-पुत्र में विश्वास और रमणता -- बहिरात्म-दशा

जगद्देहात्मदृष्टीनां विश्वास्यं रम्यमेव च

स्वात्मन्येवात्मदृष्टीनां क्व विश्वासः क्व वा रतिः ॥49॥

मूढ़ रति पर में करे, धरे जगत् विश्वास ।

स्वात्म-दृष्टि कैसे करे, जग में रति विश्वास ॥४९॥

अन्वयार्थ : [देहात्मदृष्टीनां] शरीर में आत्मदृष्टि रखनेवाले मिथ्यादृष्टि बहिरात्माओं को [जगत्] यह स्त्री-पुत्र-मित्रादि का समूहरूप जगत् [विश्वास्यं] विश्वास के योग्य [च] और [रम्य एव] रमणीय ही मालूम पड़ता है परन्तु [स्वात्मनि एव आत्मदृष्टीनां] अपने आत्मा में ही आत्मदृष्टि रखनेवाले सम्यग्दृष्टि अन्तरात्माओं को [क्व विश्वास] इन स्त्री-पुत्रादि पर-पदार्थों में कैसे विश्वास [वा क्व रति] और कैसे आसक्ति हो सकती है ?

अन्तरात्मा के स्व-पर उपकारादिक में अनासक्तता

आत्मज्ञानात्परं कार्यं न बुद्धौ धारयेच्चिरम्

कुर्यादर्थवशात्किञ्चिद्वाक्कायाभ्यामतत्परः ॥50॥

आत्मज्ञान से भिन्न कार्य कुछ, मन में थिर नहीं होय ।

कारणवश यदि कुछ करे, अनासक्ति वहां जोय ॥५०॥

अन्वयार्थ : अन्तरात्मा को चाहिए कि वह [आत्मज्ञानात्परं] आत्मज्ञान से भिन्न, दूसरे [कार्यं] कार्य को [चिर] अधिक समय तक [बुद्धौ] अपनी बुद्धि में [न धारयेत्] धारण नहीं करे । यदि [अर्थवशात्] स्व-पर के उपकारादिरूप प्रयोजन के वश [वाक्कायाभ्यां] वचन और काय से [किञ्चित् कुर्यात्] कुछ करना ही पड़े तो उसे [अतत्पर] अनासक्त होकर [कुर्यात्] करे ।

अन्तरात्मा की भावना

यत्पश्यामीन्द्रियैस्तन्मे नास्ति यन्नियतेन्द्रियः

अन्तः पश्यामि सानन्दं तदस्तु ज्योतिरुत्तमम् ॥51॥

इन्द्रिय से जो कुछ प्रगट, मम स्वरूप है नाहिं ।

'मैं हूँ आनन्द ज्योति प्रभु', भासे अन्दर माँहि ॥५१॥

अन्वयार्थ : अन्तरात्मा विचारता है कि [यत्] जो कुछ शरीरादि बाह्य पदार्थ [इन्द्रियै] इन्द्रियों के द्वारा [पश्यामि] मैं देखता हूँ । [तत्] वह [मे] मेरा स्वरूप [नास्ति] नहीं है, किन्तु [नियतेन्द्रिय] इन्द्रियों को बाह्य विषयों से रोककर, स्वाधीन करता हुआ [यत्] जिस [उत्तम] उत्कृष्ट अतीन्द्रिय [सानन्द ज्योतिः] आनन्दमय ज्ञानप्रकाश को [अन्तः] अन्तरङ्ग में [पश्यामि] देखता हूँ- अनुभव करता हूँ [तत् मे] वही मेरा वास्तविक स्वरूप [अस्तु] हो ।

अन्तरात्मा में समूल परिवर्तन

सुखमारब्धयोगस्य बहिर्दुःखमथात्मनि

बहिरेवाऽसुखं सौख्यमध्यात्मं भावितात्मनः ॥52॥

बाहर सुख भासे प्रथम, दुःख भासे निज माँहि ।

बाहर दुःख निजमाँहि सुख, भासे अनुभव माँहि ॥५२॥

अन्वयार्थ : [आरब्धयोगस्य] योग का अभ्यास शुरू करनेवाले को [बहिः] बाह्य विषयों में [सुखं] सुख मालूम होता है [अथ] और [आत्मनि] आत्मस्वरूप की भावना में [दुःखं] दुःख प्रतीत होता है किन्तु [भावितात्मनः] यथावत् आत्म-स्वरूप को जानकर, उसकी भावना के अच्छे अभ्यासी को [बहिः एव] बाह्य विषयों में ही [असुखं] दुःख जान पड़ता है और [अध्यात्म] अपने आत्म-स्वरूप में ही

[सौख्यम्] सुख का अनुभव होता है ।

अन्तरात्मा वैज्ञानिक की भांति

तद् ब्रूयात्तत्परान् पृच्छेत्तदिच्छेत्तत्परो भवेत्
येनाऽविद्यामयं रूपं त्यक्त्वा विद्यामयं व्रजेत् ॥53॥

कथन पृच्छना कामना, तत्परता बढ़ जाय ।

ज्ञानमय हो परिणमन, मिथ्याबुद्धि नशाय ॥५३॥

अन्वयार्थ : [तत् ब्रूयात्] उस आत्म-स्वरूप का कथन करे; उसे दूसरों को बतलावे; [तत् पराम् पृच्छेत्] उस आत्म-स्वरूप को दूसरे आत्मानुभवी पुरुषों से-विशेष ज्ञानियों से पूछे, [तत् इच्छेत्] उस आत्म-स्वरूप की इच्छा करे, उसकी प्राप्ति को अपना इष्ट बनाये, और [तत्परः भवेत्] उस आत्म-स्वरूप की भावना में सावधान हुआ आदर बढ़ावे, [येन] जिससे [अविद्यामय रूपं] यह अज्ञानमय बहिरात्मरूप [त्यक्त्वा] छूटकर, [विद्यामयं व्रजेत्] ज्ञानमय परमात्म-स्वरूप की प्राप्ति होवे ।

आत्मा वचन और वाणी से असंग

शरीरे वाचि चात्मानं सन्धत्ते वाक्शरीरयोः

भ्रान्तोऽभ्रान्तः पुनस्तत्त्वं पृथगेषां निबुध्यते ॥54॥

तन-वच तन्मय मूढ़ चित, जुड़े वचन-तन संग ।

भ्रान्ति रहित तन-वचन में, चित को गिने असंग ॥५४॥

अन्वयार्थ : [वाक् शरीरयो भ्रान्तः] वचन और शरीर में जिसकी भ्रान्ति हो रही है (जो उनके वास्तविक स्वरूप को नहीं समझता) - ऐसा बहिरात्मा [वाचि शरीरे च] वचन और शरीर में [आत्मानं सन्धत्ते] आत्मा का आरोपण करता है, [पुनः] किन्तु [अभ्रान्तः] ज्ञानी पुरुष, [एषा तत्त्व] इन शरीर और वचन के स्वरूप को [पृथक्] आत्मा से भिन्न [निबुध्यते] जानता है ।

इन्द्रिय विषय से आत्मा का तनिक भी भला नहीं

न तदस्तीन्द्रियार्थेषु यत्क्षेमङ्करमात्मनः

तथापि रमते बालस्तत्रैवाज्ञानभावनात् ॥55॥

इन्द्रिय-विषयों में न कुछ, आत्म-लाभ की बात ।

तो भी मूढ़ अज्ञानवश, रमता इनके साथ ॥५५॥

अन्वयार्थ : [इन्द्रियार्थेषु] पाँचों इन्द्रियों के विषय में [तत्] ऐसा कोई पदार्थ [न अस्ति] नहीं है [यत्] जो [आत्मन्] आत्मा का [क्षेमङ्करं] भला करनेवाला हो, [तथापि] तो भी [बालः] यह अज्ञानी बहिरात्मा, [अज्ञान-भावनात्] चिरकालीन मिथ्यात्व के संस्कारवश [तत्रैव] उन्हीं इन्द्रियों के विषयों में [रमते] आसक्त रहता है ।

अनादि जड़-संस्कार द्वारा पर में ममत्व

चिरं सुषुप्तास्तमसि मूढात्मानः कुयोनिषु

अनात्मीयात्मभूतेषु ममाहमिति जाग्रति ॥56॥

मोही मुग्ध कुयोनि में, है अनादि से सुप्त ।

जागे तो पर को गिने, आत्मा होकर मुग्ध ॥५६॥

अन्वयार्थ : [मूढात्मानः] ये मूर्ख अज्ञानी जीव, [तमसि] मिथ्यात्वरूपी अन्धकार के उदयवश [चिरं] अनादि काल से [कुयोनिषु] नित्य-निगोदादिक कुयोनियों में [सुषुप्ता] सो रहे हैं- अतीव जड़ता को प्राप्त हो रहे हैं । यदि कदाचित् संज्ञी प्राणियों में उत्पन्न होकर कुछ जागते भी हैं तो [अनात्मीयात्मभूतेषु मम अहम्] अनात्मीयभूत स्त्री-पुत्रादि में 'ये मेरे हैं' और अनात्मीयभूत शरीरादिकों में 'मैं ही इनरूप हूँ' [इति जाग्रति] - ऐसा अध्यवसाय करने लगते हैं ।

अन्तरात्मा के पर में अनात्म-बुद्धि

पश्येन्निरन्तरं देहमात्मनोऽनात्मचेतसा

अपरात्मधियाऽन्येषामात्मतत्त्वे व्यवस्थितः ॥57॥

हो सुव्यवस्थित आत्म में, निज काया जड़ जान ।

पर काया में भी करे, जड़ की ही पहिचान ॥५७॥

अन्वयार्थ : अन्तरात्मा को चाहिए कि [आत्मतत्त्व] अपने आत्म-स्वरूप में [व्यवस्थितः] स्थित होकर [आत्मनः देह] अपने शरीर को [अनात्मचेतसा] ' यह शरीर, मेरा आत्मा नहीं ' - ऐसी अनात्मबुद्धि से [निरन्तरं पश्येत्] सदा देखे / अनुभव करे और [अन्येषां] दूसरे प्राणियों के शरीर को [अपरात्मधिया] ' यह शरीर, पर का आत्मा नहीं ' - ऐसी अनात्मबुद्धि से [पश्येत्] सदा अवलोकन करे ।

दूसरों को बताने का श्रम व्यर्थ है

अज्ञापितं न जानन्ति यथा मां ज्ञापितं तथा

मूढात्मानस्ततस्तेषां वृथा मे ज्ञापनश्रमः ॥58॥

कहूं ना कहूं मूढ़जन, नहीं जाने निजरूप ।

समझाने का श्रम वृथा, खोना समय अनूप ॥५८॥

अन्वयार्थ : स्वात्मानुभवमग्न अन्तरात्मा विचारता है कि [यथा] जैसे [मूढात्मानः] ये मूर्ख अज्ञानी जीव, [अज्ञापितं] बिना बताए हुए [मां] मेरे आत्म-स्वरूप को [न जानन्ति] नहीं जानते हैं, [तथा] वैसे ही [ज्ञापितं] बतलाये जाने पर भी नहीं जानते हैं; [ततः] इसलिए [तेषां] उन मूढ़ पुरुषों को [मे ज्ञापन श्रमः] मेरा बतलाने का परिश्रम [वृथा] व्यर्थ है, निष्फल है ।

दूसरों को समझाना व्यर्थ क्यों?

यद्वोधयितुमिच्छामि तन्नाहं यदहं पुनः

ग्राह्यं तदपि नान्यस्य तत्किमन्यस्य बोधये ॥59॥

समझाना चाहूँ जिसे, वह नहीं मेरा अर्थ ।

नहीं अन्य से ग्राह्य मैं, क्यों समझाऊँ व्यर्थ? ॥५९॥

अन्वयार्थ : [यत्] जिसे, अर्थात् विकल्पाधिखरूढ आत्म-स्वरूप को अथवा देहादिक को - [बोधयितुं] समझाने-बुझाने की [इच्छामि] मैं इच्छा करता हूँ-चेष्टा करता हूँ [तत्] वह [न अहं] मैं नहीं, अर्थात् आत्मा का वास्तविक स्वरूप नहीं । [पुनः] और [यत्] जो ज्ञानानन्दमय स्वयं अनुभव करने योग्य आत्म-स्वरूप [अहं] मैं हूँ [तदपि] वह भी [अन्यस्य] दूसरे जीवों के [ग्राह्य न] उपदेश द्वारा ग्रहण करने योग्य नहीं है; वह तो स्व-संवेदन के द्वारा अनुभव किया जाता है; [तत्] इसलिए [अन्यस्य] दूसरे जीवों को [किं बोधये] मैं क्या समझाऊँ?

मोहाच्छादित बाह्य पदार्थों से सन्तुष्ट

बहिस्तुष्यति मूढात्मा पिहितज्योतिरन्तरे

तुष्यत्यन्तः प्रबुद्धात्मा बहिर्व्यावृत्तकौतुकः ॥60॥

आवृत अन्तर ज्योति हो, बाह्य विषय में तुष्ट ।

जागृत जग-कौतुक तजे, अन्दर से सन्तुष्ट ॥६०॥

अन्वयार्थ : [अन्तरे पिहितज्योतिः] अन्तरङ्गमें जिसकी ज्ञानज्योति मोह से आच्छादित हो गयी है, जिसे स्वरूप का विवेक नहीं - ऐसा [मूढात्मा] बहिरात्मा, [बहिः] बाह्य शरीरादि पर-पदार्थों में ही [तुष्यति] सन्तुष्ट रहता है - अनुराग करता है, किन्तु [प्रबुद्धात्मा] जिसे स्वरूप-विवेक जागृत हुआ है - ऐसा अन्तरात्मा, [बहिर्व्यावृत्त-कौतुकः] बाह्य शरीरादि पदार्थों में कौतुक (अनुराग) रहित होकर [अन्तः] अन्तरंग आत्म-स्वरूप में ही [तुष्यति] सन्तोष करता है-मग्न रहता है ।

अन्तरात्मा शरीरादि के प्रति उदासीन

न जानन्ति शरीराणि सुखदुःखान्यबुद्धयः

निग्रहानुग्रहधियं तथाप्यत्रैव कुर्वते ॥61॥

काया को होती नहीं, सुख-दुख की अनुभूति ।

पोषण-शोषण यत्न से, करते व्यर्थ कुबुद्धि ॥६१॥

अन्वयार्थ : [शरीराणि] ये शरीर [सुख-दुखानि न जानन्ति] जड़ होने से सुखों तथा दुखों को नहीं जानते हैं, [तथापि] तो भी [ये] जो जीव [अत्रैव] इन शरीरों में ही [निग्रहानुग्रहधियं] (उपवासादि द्वारा दण्डरूप) निग्रह की और (अलंकारादि द्वारा अलंकृत करनेरूप) अनुग्रह की बुद्धि [कुर्वते] धारण करते हैं, [ते] वे जीव [अबुद्धयः] मूढ़बुद्धि (बहिरात्मा) हैं ।

मन-वचन-शरीर में आत्मबुद्धि का फल संसार

स्वबुद्ध्या यावद् गृहीयात् कायवाक्चेतसां त्रयम्

संसारस्तावदेषां भेदाभ्यासे तु निर्वृतिः ॥62॥

'हैं मेरे मन-वचन-तन' - यही बुद्धि संसार ।

इनके भेद-अभ्यास से, होते भविजन पार ॥६२॥

अन्वयार्थ : [यावत्] जब तक [कायवाक्चेतसां त्रयम्] शरीर, वचन और मन - इन तीनों को [स्वबुद्ध्या] आत्मबुद्धि से [गृहीयात्] ग्रहण किया जाता है, [तावत्] तब तक [संसारः] संसार है [तु] और जब [एतेषां] इन (मन, वचन, काय) का [भेदाभ्यासे] आत्मा से भिन्न होनेरूप अभ्यास किया जाता है, तब [निर्वृतिः] मुक्ति की प्राप्ति होती है ।

अन्तरात्मा के शरीर के प्रति भेद-भावना

घने वस्त्रे यथाऽऽत्मानं न घनं मन्यते तथा

घने स्वदेहेऽप्यात्मानं न घनं मन्यते बुधः ॥63॥

जीर्णे वस्त्रे यथाऽऽत्मानं न जीर्णं मन्यते तथा

जीर्णे स्वदेहेऽप्यात्मानं न जीर्णं मन्यते बुधः ॥64॥

नष्टे वस्त्रे यथाऽऽत्मानं न नष्टं मन्यते तथा

नष्टे स्वदेहेऽप्यात्मानं न नष्टं मन्यते बुधः ॥65॥

रक्ते वस्त्रे यथाऽऽत्मानं न रक्तं मन्यते तथा

रक्ते स्वदेहेऽप्यात्मानं न रक्तं मन्यते बुधः ॥66॥

मोटा कपड़ा पहनकर, मानें नहीं तन पुष्ट ।

त्यों बुध तन की पुष्टि से, गिने न आत्मा पुष्ट ॥६३॥

वस्त्र जीर्ण से जीर्ण तन, माने नहीं बुधिवान ।

त्यों न जीर्ण तन से गिनें, जीर्ण आत्म मतिमान ॥६४॥

वस्त्र फटे माने नहीं, बुद्धिमान तन-नाश ।

त्यों तन-नाश से, बुधजन गिनते नहीं विनाश ॥६५॥

रक्त वस्त्र से नहीं गिनें, बुधजन तन को लाल ।

रक्त देह से ज्ञानीजन, गिने न चेतन लाल ॥६६॥

अन्वयार्थ : [यथा] जिस प्रकार [वस्त्र घने] गाढ़ा वस्त्र पहन लेने पर [बुधः] बुद्धिमान पुरुष, [आत्मानं] अपने को-अपने शरीर को [घनं] गाढ़ा अथवा पुष्ट [न मन्यते] नहीं मानता है, [तथा] उसी प्रकार [स्वदेहेऽपि घने] अपने शरीर के भी गाढ़ा अथवा पुष्ट होने पर [बुधः] अन्तरात्मा, [आत्मानं] आत्मा को [घनं न मन्यते] मोटा (पुष्ट) नहीं मानता है ।

[यथा] जिस प्रकार [वस्त्रे जीर्णे] पहने हुए वस्त्र के जीर्ण होने पर [बुधः] बुद्धिमान पुरुष, [आत्मानं] अपने को-अपने शरीर को [जीर्ण न मन्यते] जीर्ण नहीं मानता है; [तथा] उसी प्रकार [स्वदेहे अपि जीर्णे] अपने शरीर के भी जीर्ण हो जाने पर [बुधः] अन्तरात्मा, [आत्मानं] आत्मा को [जीर्ण न मन्यते] जीर्ण नहीं मानता है ।

[यथा] जिस तरह [वस्त्रे नष्टे] कपड़े के नष्ट हो जाने पर [बुधः] बुद्धिमान पुरुष, [आत्मानं] अपने शरीर को [नष्ट न मन्यते] नष्ट हुआ नहीं मानता है; [तथा] उसी तरह [बुधः] अन्तरात्मा, [स्वदेहे अपि नष्टे] अपने शरीर के नष्ट हो जाने पर, [आत्मानं] अपने आत्मा को [नष्ट न मन्यते] नष्ट हुआ नहीं मानता है ।

[यथा] जिस प्रकार [वस्त्रं रक्ते] पहना हुआ वस्त्र, लाल होने पर भी [बुधः] बुद्धिमान पुरुष, [आत्मानं] अपने शरीर को [रक्तं न मन्यते] लाल नहीं मानता है; [तथा] उसी तरह [स्वदेहे अपि रक्ते] अपने शरीर के लाल होने पर भी [बुधः] अन्तरात्मा, [आत्मानं] अपने आत्मा को [रक्तं न मन्यते] लाल नहीं मानता है ।

अन्तरात्मा को शरीर जड़ दिखता है

यस्य सस्पन्दमाभाति निःस्पन्देन समं जगत्

अप्रज्ञमक्रियाभोगं स शमं याति नेतरः ॥67॥

स्पंदित जग दिखता जिसे, अक्रिय जड़ अनभोग ।

वही प्रशम-रस प्राप्त हो, उसे शान्ति का योग ॥६७॥

अन्वयार्थ : [यस्य] जिस ज्ञानी पुरुष को [सस्पन्दं जगत्] अनेक क्रियाएँ-चेष्टाएँ करता हुआ [शरीरादिरूप] जगत, [निस्पन्देन समं]

निश्चेष्ट काष्ठ / पाषाणदि के समान [अप्रज्ञं] चेतना-रहित जड़ और [अक्रियाभोगं] क्रिया तथा सुखादि अनुभवरूप भोग से रहित

[आभाति] मालूम होने लगता है, [सः] वह पुरुष [अक्रियाभोगं शमं याति] मन-वचन-काय की क्रिया से और इन्द्रिय विषय भोग से रहित

है, [इतरः न] दूसरे (बहिरात्मा जीव उस शान्ति-सुख को) प्राप्त नहीं कर सकते ।

आत्मा के यथार्थ स्वरूप को नहीं जानने से संसार

शरीरकञ्चुकेनात्मा संवृतज्ञानविग्रहः

नात्मानं बुध्यते तस्माद् भ्रमत्यतिचिरं भवे ॥68॥

देहरूपी वस्त्र से, आवृत ज्ञान-शरीर ।

यह रहस्य जाने बिना, भोगे चिर भव-पीर ॥६८॥

अन्वयार्थ : [शरीरकञ्चुकेन] शरीररूपी काँचली से [संवृतज्ञानविग्रहः आत्मा] ढंका हुआ है ज्ञानरूपी शरीर जिसका, ऐसा बहिरात्मा

[आत्मानं] आत्मा के यथार्थ स्वरूप को [न बुध्यते] नहीं जानता है, [तस्मात्] इसीलिए [अतिचिरं] बहुत लम्बे काल तक [भवे] संसार में

[भ्रमति] भ्रमण करता है ।

अज्ञानी शरीर को ही आत्मा समझ लेते हैं

प्रविशद्गलतां व्यूहे देहेऽणूनां समाकृतौ

स्थितिभ्रान्त्या प्रपद्यन्ते तमात्मानमबुद्ध्यः ॥69॥

अणु के योग-वियोग में, देह समानाकार ।

एक क्षेत्र लख आत्मा, माने देहाकार ॥६९॥

अन्वयार्थ : [अबुद्ध्यः] अज्ञानी बहिरात्मा जीव, [प्रविशद्गलतां अणूनां व्यूहे देहे] जो प्रवेश करते और बाहर निकलते हैं - ऐसे परमाणुओं

के समूहरूप शरीर में [समाकृतौ] आत्मा, शरीर की आकृति के समानरूप में [स्थितिभ्रान्त्या] (आत्मा) स्थित होने से, अर्थात् शरीर और

आत्मा एक क्षेत्र में स्थित होने से - दोनों को एक रूप समझने की भ्रान्ति से, [तम्] उस शरीर को ही [आत्मानं] आत्मा [प्रपद्यते] समझ

लेते हैं ।

मैं शरीर नहीं, ज्ञान मेरा शरीर

गौरः स्थूलः कृशो वाऽहमित्यङ्गेनाविशेषयन्
आत्मानं धारयेन्नित्यं केवलज्ञप्तिविग्रहम् ॥70॥

'मैं गोरा स्थूल नहीं' - ये सब तन के रूप ।

आत्मा निश्चय नित्य है, केवल ज्ञानस्वरूप ॥७०॥

अन्वयार्थ : [अहं गौरः] मैं गोरा हूँ [स्थूलः] मोटा हूँ [वा कृशः] अथवा दुबला हूँ [इति] इसप्रकार [अंगेन] शरीर के साथ [आत्मानं] अपने को [अविशेषयन्] एकरूपन करते हुए [नित्यं] सदा ही [आत्मानं] अपने आत्मा को [केवलज्ञप्तिविग्रहम्] केवलज्ञान स्वरूप अथवा रूपादि-रहित उपयोग शरीरी [धारयेत्] अपने चित्त में धारण करना-मानना ।

आत्म-स्वरूप में निश्चल धारणा से मुक्ति

मुक्तिरेकान्तिकी तस्य चित्ते यस्याचला धृतिः

तस्य नैकान्तिकी मुक्तिर्यस्य नास्त्यचला धृतिः ॥71॥

चित्त में निश्चल धारणा, उसे मुक्ति का योग ।

जिसे न निश्चल धारणा, शाश्वत मुक्ति-वियोग ॥७१॥

अन्वयार्थ : [यस्य] जिसके [चित्ते] चित्त में [अचला] आत्मस्वरूप की निश्चल [धृतिः] धारणा है [तस्य] उसकी [एकान्तिकी मुक्तिः] एकान्त (नियम) से मुक्ति होती है । [यस्य] जिस पुरुष की [अचलाधृतिः नास्ति] आत्मस्वरूप में निश्चल धारणा नहीं है [तस्य] उसकी [एकान्तिकी मुक्तिः न] अवश्यम्भाविनी मुक्ति नहीं होती है ।

अन्तरात्मा लौकिक संसर्ग से परे

जनेभ्यो वाक् ततः स्पन्दो मनसश्चित्तविभ्रमाः

भवन्ति तस्मात्संसर्ग जनैर्योगी ततस्त्यजेत् ॥72॥

लोक-संग से वच-प्रवृत्ति, वच से चञ्चल चित्त ।

फिर विकल्प, फिर क्षुब्ध मन, मुनिजन होय निवृत्त ॥७२॥

अन्वयार्थ : [जनेभ्यो] लोगों के संसर्ग से [वाक्] वचन की प्रवृत्ति होती है; [ततः] उससे [मनसःस्पन्द] मन की व्यग्रता होती है -उससे चित्त चलायमान होता है [तस्मात्] चित्त की चंचलता से [चित्तविभ्रमाः भवन्ति] चित्त में नाना प्रकार के विकल्प उठने लगते हैं-मन क्षुब्ध हो जाता है [ततः] इसलिए [योगी] योग में संलग्न होनेवाले अन्तरात्मा को [जनैः संसर्ग त्यजेत्] लौकिकजनों के संसर्ग का परित्याग करना चाहिए ।

अन्तरात्मा के लिए ग्राम-वन में कोई भेद नहीं

ग्रामोऽरण्यमिति द्वेधा निवासोऽनात्मदर्शिनाम्

दृष्टात्मनां निवासस्तु विविक्तात्मैव निश्चलः ॥73॥

जन अनात्मदर्शी करें, ग्राम-अरण्य निवास ।

आत्मदृष्टि करते सदा, निज में निज का वास ॥७३॥

अन्वयार्थ : [अनात्मदर्शिनां] जिन्हें आत्मा का अनुभव नहीं हुआ - ऐसे लोगों के लिए [ग्रामः अरण्यम्] यह गाँव है, यह जंगल है [इति द्वेधा निवासः] इस प्रकार दो तरह के निवास हैं [तु] किन्तु [दृष्टात्मनां] जिन्हें आत्म-स्वरूप का अनुभव हो गया है - ऐसे ज्ञानी पुरुषों के लिए [विविक्तः] रागादि रहित विशुद्ध एवं [निश्चलः] चित्त की व्याकुलता-रहित स्वरूप में स्थिर [आत्मा एव] आत्मा ही [निवासः] रहने का स्थान है ।

आत्मदर्शी और अनात्मदर्शी के फल

देहान्तरगतेर्बीजं देहेऽस्मिन्नात्मभावना

बीजं विदेहनिष्पत्तेरात्मन्येवात्मभावना ॥74॥

आत्मबुद्धि ही देह में, देहान्तर का मूल ।

आत्मबुद्धि जब आत्म में, हो तन ही निर्मूल ॥७४॥

अन्वयार्थ : [अस्मिन् देहे] इस शरीर में [आत्मभावना] आत्मा की जो भावना (शरीर को ही आत्मा मानना) है - वही [देहान्तरगतेः] अन्य शरीर ग्रहणरूप भवान्तर प्राप्ति का [बीजं] बीज (कारण) है और [आत्मनि एव] अपनी आत्मा में ही [आत्मभावना] आत्मा की जो भावना (आत्मा को ही आत्मा मानना) है, वह [विदेहनिष्पत्तेः] शरीर के सर्वथा त्यागरूप मुक्ति का [बीजं] कारण है ।

आत्मा स्वयं अपना गुरु, कोई और नहीं

नयत्यात्मानमात्मैव जन्म निर्वाणमेव च

गुरुरात्मात्मनस्तस्मान्नान्योऽस्ति परमार्थतः ॥75॥

आत्मा ही भव-हेतु है, आत्मा ही निर्वाण ।

यों निश्चय से आत्म का, आत्मा ही गुरु जान ॥७५॥

अन्वयार्थ : [आत्मा एव] आत्मा ही [आत्मानं] आत्मा को [जन्म नयति] देहादिक में दृढात्मभावना के कारण, जन्म-मरणरूप संसार में भ्रमण कराता है [च] और [निर्वाणमेव नयति] आत्मा में ही आत्मबुद्धि के प्रकर्षवश, मोक्ष प्राप्त कराता है; [तस्मात्] इसलिए [परमार्थतः] निश्चय से [आत्मनः गुरुः] आत्मा का गुरु [आत्मा एव] आत्मा ही है, [अन्यः न अस्ति] दूसरा कोई गुरु नहीं है ।

अज्ञानी को मरण का भय

दृढात्मबुद्धिर्देहादावुत्पश्यन्नाशमात्मनः

मित्रादिभिर्वियोगं च बिभेति मरणाद् भृशम् ॥76॥

आत्मबुद्धि है देह में, जिसकी प्रबल दुरन्त ।

वह तन-परिजन मरण से, होता अति भयवन्त ॥७६॥

अन्वयार्थ : [देहादौ दृढात्मबुद्धिः] शरीरादिक में जिसकी आत्मबुद्धि दृढ हो रही है - ऐसा बहिरात्मा [आत्मनः नाशम्] शरीर के छूटनेरूप अपने मरण [च] और [मित्रादिभिः वियोगं] मित्रादि-सम्बन्धियों से होनेवाले वियोग को [उत्पश्यन्] देखता हुआ, [मरणात्] मरने से [भृशम्] अत्यन्त [बिभेति] डरता है ।

ज्ञानी भय-रहित

आत्मन्येवात्मधीरन्यां शरीरगतिमात्मनः

मन्यते निर्भयं त्यक्त्वा वस्त्रम् वस्त्रान्तरग्रहम् ॥77॥

आत्मबुद्धि हो आत्म में, निर्भय तजता देह ।

वस्त्र पलटने सम गिनें, तन-गति नहीं सन्देह ॥७७॥

अन्वयार्थ : [आत्मनिः एव आत्मधीः] आत्मस्वरूप में ही जिसकी दृढ आत्मबुद्धि है - ऐसा अन्तरात्मा [शरीरगतिं] शरीर के विनाश को अथवा बाल-युवा आदिरूप उसकी परिणति को [आत्मनः अन्यां] अपने आत्मा से भिन्न [मन्यते] मानता है, अर्थात् शरीर के उत्पाद विनाश में अपने आत्मा का उत्पाद-विनाश नहीं मानता और इस तरह मरण के अवसर पर [वस्त्रं त्यक्त्वा वस्त्रान्तरग्रहम् इव] एक वस्त्र को छोड़कर, दूसरा वस्त्र ग्रहण करने की तरह [निर्भयं मन्यते] अपने को निर्भय मानता है ।

ज्ञानी और अज्ञानी की परिणति भिन्न

व्यवहारे सुषुप्तो यः स जागत्र्यात्मगोचरे
जागर्ति व्यवहारेऽस्मिन् सुषुप्तश्चात्मगोचरे ॥78॥
जो सोता व्यवहार में, वह जागे निजकार्य ।
जो जागे व्यवहार में, रुचे न आत्म-कार्य ॥७८॥

अन्वयार्थ : [यः] जो कोई [व्यवहारे] व्यवहार में [सुषुप्तः] सोता है [सः] वह [आत्मगोचरे] आत्मा के विषय में [जागर्ति] जागता है-
आत्मानुभव में तत्पर रहता है [च] और जो [अस्मिन् व्यवहारे] इस व्यवहार में [जागर्ति] जागता है, वह [आत्मगोचरे] आत्मा के विषय में
[सुषुप्तः] सोता है ।

आत्म-स्वरूप में जाग्रत के मुक्ति-प्राप्ति

आत्मानमन्तरे दृष्ट्वा दृष्ट्वा देहादिकं बहिः
तयोरन्तरविज्ञानादभ्यासादच्युतो भवेत् ॥79॥
अन्तर देखे आत्मा, बाहर देखे देह ।
भेदज्ञान अभ्यास जब, दृढ़ हो बने विदेह ॥७९॥

अन्वयार्थ : [अन्तरे] अन्तरङ्ग में [आत्मानम्] आत्मा के वास्तविक स्वरूप को [दृष्ट्वा] देखकर और [बहिः] बाह्य में [देहादिकं]
शरीरादिक परभावों को [दृष्ट्वा] देखकर, [तयोः] आत्मा और शरीरादिक दोनों के [अन्तरविज्ञानात्] भेद-विज्ञान से तथा [अभ्यासात्]
अभ्यास द्वारा उस भेद-विज्ञान में दृढ़ता प्राप्त करने से [अच्युतो भवेत्] (यह जीव) अच्युत (मुक्त) हो जाता है ।

योगी को जगत कैसा प्रतिभासित होता है?

पूर्वं दृष्टात्मतत्त्वस्य विभात्युन्मत्तवज्जगत्
स्वभ्यस्तात्मधियः पश्चात् काष्ठपाषाणरूपवत् ॥80॥
ज्ञानीजन को जग प्रथम, भासे मत्त समान ।
फिर अभ्यास विशेष से, दिखे काष्ठ-पाषाण ॥८०॥

अन्वयार्थ : [दृष्टात्मतत्त्वस्य] जिसे आत्म-दर्शन हो गया है - ऐसे योगी जीव को [पूर्वं] योगाभ्यास की प्राथमिक अवस्था में [जगत्] जगत
[उन्मत्तवत्] उन्मत्त- सरीखा / पागलवत् [विभाति] ज्ञात होता है, किन्तु [पश्चात्] बाद को जब योग की निश्चलावस्था हो जाती है, तब
[स्वभ्यस्तात्मधियः] आत्म-स्वरूप के अभ्यास में परिपक्व हुए अन्तरात्मा को [काष्ठपाषाणरूपवत्] यह जगत, काठ और पत्थर के समान
चेष्टा-रहित मालूम होने लगता है ।

आत्मा की चर्चा मात्र से मुक्ति नहीं

शृण्वन्नप्यन्यतः कामं वदन्नपि कलेवरात्
नात्मानं भावयेद्भिन्नं यावत्तावन्न मोक्षभाक् ॥81॥
सुने बहुत आत्म-कथा, मुँह से कहता आप ।
किन्तु भिन्न अनुभूति बिन, नहीं मुक्ति का लाभ ॥८१॥

अन्वयार्थ : आत्मा का स्वरूप [अन्यतः] उपाध्याय आदि गुरुओं के मुख से [कामं] बहुत ही [शृण्वन्नपि] सुनने पर तथा [कलेवरात्]
अपने मुख से [वदन्नपि] दूसरों को बतलाते हुए भी [यावत्] जब तक [आत्मानं] आत्मस्वरूप की [भिन्नं] शरीरादि पर-पदार्थों से भिन्न [न
भावयेत्] भावना नहीं की जाती, [तावत्] तब तक [मोक्षभाक् न] यह जीव, मोक्ष का पात्र नहीं होता ।

अन्तरात्मा स्वप्न में भी अपने को शरीर नहीं मानता

तथैव भावयेद्देहाद् व्यावृत्त्यात्मानमात्मनि
यथा न पुनरात्मानं देहे स्वप्नेऽपि योजयेत् ॥82॥

आत्मा तन से भिन्न गिन, करे सतत अभ्यास ।

जिससे तन का स्वप्न में, हो न कभी विश्वास ॥८२॥

अन्वयार्थ : अन्तरात्मा, [देहात्] शरीर से [आत्मानं] आत्मा को [व्यावृत्य] भिन्न अनुभव करके [आत्मनि] आत्मा में ही [तथैव] उस प्रकार से [भावयेत्] भावना करे [यथा पुनः] जिस प्रकार से फिर [स्वप्नेऽपि] स्वप्न में भी [देहे] शरीर की उपलब्धि होने पर, उसमें [आत्मानं] आत्मा को [न योजयेत्] योजित न करे, अर्थात् आत्मा न समझ बैठे ।

व्रत का विकल्प भी त्यागने योग्य

अपुण्यमव्रतैः पुण्यं व्रतैर्मोक्षस्तयोद्वयः

अव्रतानीव मोक्षार्थी व्रतान्यपि ततस्त्यजेत् ॥८३॥

व्रत-अव्रत से पुण्य-पाप, मोक्ष उभय का नाश ।

अव्रतसम व्रत भी तजो, यदि मोक्ष की आश ॥८३॥

अन्वयार्थ : [अवतैः] हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रहरूप पाँच अव्रतों से [अपुण्यम्] पाप का बन्ध होता है और [व्रतैः]

अहिंसादिक व्रतों से [पुण्यं] पुण्य का बन्ध होता है [तयोः] पुण्य और पाप दोनों का [व्ययः] जो विनाश है, वही [मोक्षः] मोक्ष है; [ततः]

इसलिए [मोक्षार्थी] मोक्ष के इच्छुक पुरुष [अव्रतानि इव] अव्रतों की भाँति [व्रतानि अपि] व्रतों का भी [त्यजेत्] त्यागे ।

त्याग का क्रम

अव्रतानि परित्यज्य व्रतेषु परिनिष्ठितः

त्यजेत्तान्यपि संप्राप्य परमं पदमात्मनः ॥८४॥

हिंसादिक को छोड़कर, होय अहिंसा निष्ठ ।

राग व्रतों को भी तजे, हो चैतन्य प्रविष्ट ॥८४॥

अन्वयार्थ : [अव्रतानि] हिंसादिक पंच अव्रतों को [परित्यज्य] छोड़ करके, [व्रतेषु] अहिंसादिक व्रतों में [परिनिष्ठितः] निष्ठावान रहना,

अर्थात् उनका दृढ़ता के साथ पालन करना; बाद में [आत्मनः] आत्मा के [परमं पदं] राग-द्वेषादि रहित परम वीतराग पद को [प्राप्य] प्राप्त करके [तान् अपि] उन व्रतों को भी [त्यजेत्] त्याग देना ।

अंतर-जल्प रहित को मुक्ति

यदन्तर्जल्पसंपृक्तमुत्प्रेक्षाजालमात्मनः

मूलं दुःखस्य तन्नाशे शिष्टमिष्टं परं पदम् ॥८५॥

अन्तर्जल्प क्रिया लिये, विविध कल्पना-जाल ।

हो समूल निर्मूल तो, मोक्ष होय तत्काल ॥८५॥

अन्वयार्थ : [अन्तर्जल्पसंपृक्तं] अन्तरङ्ग जल्पयुक्त [यत् उत्प्रेक्षाजालं] जो विकल्पजाल है, वही [आत्मनः] आत्मा के [दुःखस्य] दुःख का [मूलं] मूलकारण है, [तन्नाशे] उसका, अर्थात् विकल्पजाल का विनाश होने पर, [शिष्टं] हितकारी [परमं पदं शिष्टं] परमपद की प्राप्ति होती है - ऐसा प्रतिपादन किया है ।

विकल्पों के नाश का क्रम

अव्रती व्रतमादाय व्रती ज्ञानपरायणः

परात्मज्ञानसम्पन्नः स्वयमेव परो भवेत् ॥८६॥

करें अव्रती व्रत-ग्रहण, व्रती ज्ञान में लीन ।

फिर हों केवलज्ञानयुत, बनें सिद्ध स्वाधीन ॥८६॥

अन्वयार्थ : [अव्रती] हिंसादिक पञ्च अव्रतों में अनुरक्त हुए मनुष्य को [व्रतं आदाय] अहिंसादि व्रतों को ग्रहण करके अव्रतावस्था में

होनेवाले विकल्पों का नाश करना तथा [व्रती] अहिंसादिक व्रतों के धारक को [ज्ञानपरायणः] ज्ञानभावना में लीन होकर, व्रतावस्था में होनेवाले विकल्पों का नाश करना और फिर अरहन्त-अवस्था में [परात्मज्ञानसम्पन्नः] केवलज्ञान से युक्त होकर [परः भवेत्] परमात्मा होना -सिद्ध-स्वरूप को प्राप्त करे ।

लिंग-रहित को मुक्ति

लिङ्गं देहाश्रितं दृष्टं देह एवात्मनो भवः

न मुच्यन्ते भवात्तस्मात्ते ये लिङ्गकृताऽऽग्रहाः ॥८७॥

लिङ्ग देह आश्रित दिखे, आत्मा का भव देह ।

जिनको आग्रह लिङ्ग का, कभी न होय विदेह ॥८७॥

अन्वयार्थ : [लिङ्ग] लिङ्ग, अर्थात् नग्नपना आदि वेष [देहाश्रितं दृष्टं] शरीर के आश्रित देखा जाता है [देह एव] और शरीर ही [आत्मनः] आत्मा का [भवः] संसार है; [तस्मात्] इसलिए [ये लिङ्गकृताग्रहाः] जो लिङ्ग के ही आग्रही हैं, [ते] वे पुरुष [भवात्] संसार से [न मुच्यन्ते] नहीं छूटते हैं - मुक्त नहीं होते ।

जाति का हठ मुक्ति में बाधक

जातिर्देहाश्रिता दृष्टा देह एवात्मनो भवः

न मुच्यन्ते भवात्तस्मात्ते ये जातिकृताग्रहाः ॥८८॥

जाति देह आश्रित कही, आत्मा का भव देह ।

जिनको आग्रह जाति का, सदा मुक्ति संदेह ॥८८॥

अन्वयार्थ : [जातिः] ब्राह्मण आदि जाति, [देहाश्रिता दृष्टा] शरीर के आश्रित देखी गयी है [देह एव] और शरीर ही [आत्मनः भवः] आत्मा का संसार है; [तस्मात्] इसलिए [ये] जो जीव, [जातिकृताग्रहाः] मुक्ति की प्राप्ति के लिए जाति का हठ पकड़े हुए हैं [तेऽपि] वे भी [भवात्] संसार से [न मुच्यन्ते] नहीं छूट सकते हैं ।

जाति और लिंग को लेकर हठ भी मुक्ति में बाधक

जातिलिङ्गविकल्पेन येषां च समयाग्रहः

तेऽपि न प्राप्नुवन्त्येव परमं पदमात्मनः ॥८९॥

जाति-लिंग से मोक्ष-पद, आगम-आग्रह वान ।

नहीं पावें वे आत्म का, परम सुपद निर्वाण ॥८९॥

अन्वयार्थ : [येषां] जिन्हें [जातिलिंग-विकल्पेन] जाति और लिंग के विकल्प से मुक्ति होती है - ऐसा [समयाग्रहः] आगम सम्बन्धी आग्रह है, [ते अपि] वे भी [आत्मनः] आत्मा के [परमं पदं] परमपद को [न प्राप्नुवन्ति एव] प्राप्त कर नहीं सकते हैं -- संसार से मुक्त हो नहीं सकते हैं ।

निर्मोही और मोही में भेद

यत्त्यागाय निवर्तन्ते भोगेभ्यो यदवाप्तये

प्रीतिं तत्रैव कुर्वन्ति द्वेषमन्यत्र मोहिनः ॥९०॥

बुध तन त्याग विराग-हित, होते भोग निवृत्त ।

मोही उनसे द्वेष कर, रहते भोग प्रवृत्त ॥९०॥

अन्वयार्थ : [यत्त्यागाय] जिस शरीर के त्याग के लिए, अर्थात् उससे ममत्व दूर करने के लिए और [यदवाप्तये] जिस परम वीतरागपद को प्राप्त करने के लिए [भोगेभ्यः] इन्द्रियों के भोगों से [निवर्तन्ते] निवृत्त होते हैं, अर्थात् उनका त्याग करते हैं, [तत्रैव] उसी शरीर और इन्द्रियों के विषयों में [मोहिनः] मोही जीव, [प्रीतिं कुर्वन्ति] प्रीति करते हैं और [अन्यत्र] वीतरागता आदि के साधनों में [द्वेष कुर्वन्ति] द्वेष

करते हैं ।

अज्ञानी को संयोग में एकत्व-बुद्धि

अनन्तरज्ञः सन्धत्ते दृष्टिं पङ्गोर्यथान्धके

संयोगात् दृष्टिमङ्गोऽपि सन्धत्ते तद्वदात्मनः ॥91॥

यथा पंगु की दृष्टि का, करे अन्धे में आरोप ।

तथा भेदविज्ञान बिन, तन में आत्मारोप ॥९१॥

अन्वयार्थ : [अनन्तरज्ञ] भेदज्ञान न रखनेवाला पुरुष [यथा] जिस प्रकार [संयोगात्] संयोग के कारण, भ्रम में पडकर संयुक्त हुए लंगड़े और अन्धे की क्रियाओं को ठीक न समझ कर, [पंगोर्दृष्टिं] लंगड़े की दृष्टि को [अन्धके] अन्धे पुरुष में [संधत्ते] आरोपित करता है -- यह समझता है कि अन्धा स्वयं देखकर चल रहा है, [तद्वत्] उसीप्रकार [आत्मनः दृष्टि] आत्मा की दृष्टि को [अंगेऽपि] शरीर में भी [सन्धत्ते] आरोपित करता है -- यह समझने लगता है कि यह शरीर ही देखता-जानता है ।

अन्तरात्मा संयोग को संयोग ही देखता है

दृष्टभेदो यथा दृष्टिं पङ्गोरन्धे न योजयेत्

तथा न योजयेद् देहे दृष्टात्मा दृष्टिमात्मनः ॥92॥

पंगु अन्ध की दृष्टि का, बुधजन जानें भेद ।

त्यों तन-आत्मा का करें, ज्ञानी अन्तर छेद ॥९२॥

अन्वयार्थ : [दृष्टभेद] जो लँगड़े और अन्धे के भेद का तथा उनकी क्रियाओं को ठीक समझता है, वह [यथा] जिस प्रकार [पंगोर्दृष्टिं] लँगड़े की दृष्टि को अंधे पुरुष में [न योजयेत्] नहीं जोड़ता- अन्धे को मार्ग देखकर चलनेवाला नहीं मानता । [तथा] उसी प्रकार [दृष्टात्मा] आत्मा को शरीरादि पर-पदार्थों से भिन्न अनुभव करनेवाला अन्तरात्मा [आत्मनः दृष्टि] आत्मा की दृष्टि को-उसके ज्ञान-दर्शनस्वभाव को, [देहे] शरीर में [न योजयेत्] नहीं जोड़ता है -- शरीर को ज्ञाता-दृष्टा नहीं मानता है ।

बहिरात्मा और अन्तरात्मा किसे भ्रम कहते हैं

सुप्तोन्मत्ताद्यवस्थैव विभ्रमोऽनात्मदर्शिनाम्

विभ्रमोऽक्षीणदोषस्य सर्वावस्थाऽऽत्मदर्शिनः ॥93॥

निद्रित अरु उन्मत्त को, सब जग माने भ्रांत ।

अन्तर-दृष्टि को दिखे, सब जग मोहाक्रान्त ॥९३॥

अन्वयार्थ : [अनात्मदर्शिनाम्] आत्मस्वरूप का वास्तविक परिज्ञान जिन्हें नहीं है - ऐसे बहिरात्माओं को [सुप्तोन्मत्तादि अवस्था एव] केवल सोने व उन्मत्त होने की अवस्था ही [विभ्रमः] भ्रमरूप मालूम होती है किन्तु [आत्मदर्शिन] आत्मानुभवी अन्तरात्मा को, [अक्षीणदोषस्य] मोहाक्रान्त बहिरात्मा की [सर्वावस्था] सर्व ही अवस्थाएँ-सुप्त और उन्मत्तादि अवस्थाओं की तरह, जाग्रत, प्रबुद्ध और अनुन्मत्तादि अवस्थाएँ भी [विभ्रमः] भ्रमरूप मालूम होती हैं ।

शास्त्र-ज्ञान और जाग्रत अवस्था से ही मुक्ति नहीं

विदिताशेषशास्त्रोऽपि न जाग्रदपि मुच्यते

देहात्मदृष्टिर्ज्ञातात्मा सुप्तोन्मत्तोऽपि मुच्यते ॥94॥

हो बहिरातम शास्त्र-पटु, हो जाग्रत, नहीं मुक्त ।

निद्रित हो उन्मत्त हो, ज्ञाता कर्म-विमुक्त ॥९४॥

अन्वयार्थ : [देहात्मदृष्टिः] शरीर में आत्मबुद्धि रखनेवाला बहिरात्मा [विदिताशेषशास्त्र अपि] सम्पूर्ण शास्त्रों का जाननेवाला होने पर भी तथा [जाग्रत् अपि] जागता हुआ भी [न मुच्यते] कर्म-बन्धन से नहीं छूटता है किन्तु [ज्ञातात्मा] जिसने आत्मा के स्वरूप को देह से भिन्न

अनुभव कर लिया है - ऐसा विवेकी अन्तरात्मा [सुमोन्मत्त अपि] सोता और उन्मत्त हुआ भी [मुच्यते] कर्म-बन्धन से मुक्त होता है-
विशिष्टरूप से कर्मों की निर्जरा करता है ।

रूचि के अनुसार तन्मयता

यत्रैवाहितधीः पुंसः श्रद्धा तत्रैव जायते

यत्रैव जायते श्रद्धा चित्तं तत्रैव लीयते ॥95॥

जहाँ बुद्धि हो मग्न वहीं, हो श्रद्धा निष्पन्न ।

हो श्रद्धा जिसकी जहाँ, वहीं पर तन्मय मन ॥९५॥

अन्वयार्थ : [यत्र एव] जहाँ ही - जिस किसी विषय में ही [पुंसः] पुरुष को [आहितधीः] दत्तावधानरूप (लीन) बुद्धि होती है [तत्रैव] वहीं, अर्थात् उसी विषय में उसे [श्रद्धा जायते] श्रद्धा उत्पन्न होती है और [यत्र एव] जहाँ ही - अर्थात् जिस विषय में ही [श्रद्धा जायते] श्रद्धा उत्पन्न होती है, [तत्रैव] वहाँ ही - उस विषय में ही [चित्तं लीयते] उसका मन लीन (तन्मय) हो जाता है ।

रूचि नहीं तो श्रद्धा हट जाती है

यत्रानाहितधीः पुंसः श्रद्धा तस्मान्निवर्तते

यस्मान्निवर्तते श्रद्धा कुतश्चित्तस्य तल्लयः ॥96॥

जहाँ नहीं मति-मग्नता, श्रद्धा का भी लोप ।

श्रद्धा बिन कैसे बने, चित्त-स्थिरता योग ॥९६॥

अन्वयार्थ : [यत्र] जिस विषय में [पुंस] पुरुष की [अनाहितधीः] बुद्धि दत्तावधानरूप (मग्न) नहीं होती, [तस्मात्] उससे [श्रद्धा] श्रद्धा [निवर्तते] हट जाती है- उठ जाती है; और [यस्मात्] जिससे [श्रद्धा] श्रद्धा [निवर्तते] हट जाती है, [चित्तस्य] चित्त की [तल्लयः कुतः] उस विषय में लीनता कैसे हो सकती है?

भिन्ना आत्मा की उपासना

भिन्नात्मानमुपास्यात्मा परो भवति तादृशः

वर्तिर्दीपं यथोपास्य भिन्ना भवति तादृशी ॥97॥

जैसे दीप-संयोग से, वाती बनती दीप ।

त्यों परमात्मा ध्यान से, परमात्मा हो जीव ॥९७॥

अन्वयार्थ : [आत्मा] यह आत्मा [भिन्नात्मान] अपने से भिन्न आत्मा की [उपास्य] उपासना करके [तादृश] उन्हीं के समान [परः भवति] परमात्मा होता है; [यथा] जैसे, [भिन्ना वर्तिः] दीपक से भिन्न बत्ती भी [दीप उपास्य] दीपक की उपासना करके (उसका सामीप्य प्राप्त करके) [तादृशी] उसके जैसी - दीपक-स्वरूप [भवति] हो जाती है ।

अभिन्न आत्मा की उपासना

उपास्यात्मानमेवात्मा जायते परमोऽथवा

मथित्वाऽऽत्मानमात्मैव जायतेऽग्निर्यथा तरुः ॥98॥

निज आत्म के ध्यान से, स्वयं बने प्रभु आप ।

बाँस रगड़ से बाँस में, स्वयं प्रगट हो आग ॥९८॥

अन्वयार्थ : [अथवा] अथवा [आत्मा] यह आत्मा [आत्मानम्] अपने चित्स्वरूप को ही [उपास्य] चिदानन्दमयरूप से आराधन करके, [परमः] परमात्मा [जायते] हो जाता है, [यथा] जैसे, [तरुः] बाँस का वृक्ष [आत्मानं] अपने को [आत्मैव] अपने से ही [मथित्वा] लड़कर, [अग्निः] अग्निरूप [जायते] हो जाता है ।

भिन्न-अभिन्न आराधना द्वारा लक्ष्य प्राप्ति

इतीदं भावयेन्नित्यमवाचांगोचरं पदम्

स्वत एव तदाप्नोति यतो नावर्तते पुनः ॥99॥

भेदाभेद स्वरूप का, सतत चले अभ्यास ।

मिले अवाची पद स्वयं, प्रत्यावर्तन नाश ॥९९॥

अन्वयार्थ : [इति] उक्त प्रकार से [इदं] भेद-अभेदरूप आत्मस्वरूप की [नित्यं] निरन्तर [भावयेत्] भावना करनी चाहिए - ऐसा करने से [तत्] उस [अवाचांगोचरं पदं] अनिर्वचनीय परमात्मपद को [स्वत एव] स्वयं ही यह जीव [आप्नोति] प्राप्त करता है [यतः], जिस पद से [पुनः] फिर [न आवर्तते] वापस नहीं आता - पुनर्जन्म लेकर संसार में भ्रमण करना नहीं पड़ता ।

चार्वाक और सांख्य के प्रति

अयत्नसाध्यं निर्वाणं चित्तत्वं भूतजं यदि

अन्यथा योगतस्तस्मान्न दुःखं योगिनां क्वचित् ॥100॥

पंचभूत से चेतना, यत्न-साध्य से मोक्ष ।

योगी को अतएव नहीं, कहीं कष्ट का योग ॥१००॥

अन्वयार्थ : [चित्तत्वं] चेतना लक्षणवाला, यह जीव-तत्त्व [यदि भूतजं] यदि भूत चतुष्टय से उत्पन्न हुआ हो तो [निर्वाणं] मोक्ष [अयत्नसाध्यं] यत्न से साधने योग्य नहीं रहे [अन्यथा] अथवा [योगतः] योग से, अर्थात् शारीरिक योग-क्रिया से [निर्वाणं] निर्वाण की प्राप्ति हो तो [तस्मात्] उससे [योगिनः] योगियों को [क्वचित्] किसी भी अवस्था में [दुःखं न] दुःख नहीं हो ।

आत्मा का नाश नहीं होता

स्वप्ने दृष्टे विनष्टेऽपि न नाशोऽस्ति यथात्मनः

तथा जागरदृष्टेऽपि विपर्ययाविशेषतः ॥101॥

देह नाश के स्वप्न में, यथा न निज का नाश ।

जाग्रत देह-वियोग में, तथा आत्म अविनाश ॥१०१॥

अन्वयार्थ : [स्वप्ने] स्वप्न की अवस्था में [दृष्टे विनष्टे अपि] प्रत्यक्ष देखे जानेवाले शरीरादिक के विनाश होने पर भी, [यथा] जिस प्रकार [आत्मनः] आत्मा का [नाशः न अस्ति] नाश नहीं होता है; [तथा] उसी प्रकार [जागरदृष्टे अपि] जाग्रत अवस्था में भी दृष्ट शरीरादिक का विनाश होने पर भी, आत्मा का नाश नहीं होता है [विपर्ययाविशेषतः] क्योंकि दोनों ही अवस्थाओं में विपरीत प्रतिभास में कोई अन्तर नहीं है ।

काय-क्लेश क्या व्यर्थ है?

अदुःखभावितं ज्ञानं क्षीयते दुःखसन्निधौ

तस्माद्यथाबलं दुःखैरात्मानं भावयेन्मुनिः ॥102॥

दुःख सन्निधि में नहीं टिके, अदुःख भावित ज्ञान ।

दृढतर भेद-विज्ञान का, अतः नहीं अवसान ॥१०२॥

अन्वयार्थ : [अदुःखभावितं ज्ञानं] जो ज्ञान अदुःख (सुख) में भाया जाता है, वह [दुःखसन्निधौ] उपसर्गादिक दुःखों के उपस्थित होने पर [क्षीयते] नष्ट हो जाता है । [तस्मात्] इसलिए [मुनिः] मुनि को - अन्तरात्मा योगी को [यथाबलं] अपनी शक्ति के अनुसार [दुःखै] काय-क्लेशादिरूप दुःखों से [आत्मानं भावयेत्] आत्मा की शरीरादि से भिन्न भावना करनी चाहिए ।

आत्मा और शरीर में निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध

प्रयत्नादात्मनो वायुरिच्छाद्वेषप्रवर्तितात्
वायोः शरीरयन्त्राणि वर्तन्ते स्वेषु कर्मसु ॥103॥
राग-द्वेष के यत्न से, हो वायु संचार ।
वायु है तनयन्त्र की, संचालन आधार ॥१०३॥

अन्वयार्थ : [आत्मनः] आत्मा के [इच्छाद्वेषप्रवर्तितात् प्रयत्नात्] राग और द्वेष की प्रवृत्ति से होनेवाले प्रयत्न से [वायुः] वायु उत्पन्न होती है-
वायु का संचार होता है, [वायोः] वायु के संचार से [शरीरयन्त्राणि] शरीररूपी यन्त्र, [स्वेषु कर्मसु] अपने-अपने कार्य करने में [वर्तन्ते] प्रवृत्त होते हैं ।

बहिरात्मा निमित्त को उपादान देखता है

तान्यात्मनि समारोप्य साक्षाण्यास्तेऽसुखं जडः
त्यक्त्वाऽऽरोपं पुनर्विद्वान् प्राप्नोति परमं पदम् ॥104॥
मूढ़ अक्षमय आत्म गिन, भोगे दुःख संताप ।
सुधी तजे यह मान्यता, पावे शिवपद आप ॥१०४॥

अन्वयार्थ : [जड़] मूर्ख (बहिरात्मा) [साक्षाणि] इन्द्रियों सहित [तानि] उन औदारिकादि शरीर-यन्त्रों को [आत्मनि समारोप्य] आत्मा में आरोपण करके 'मैं गोरा हूँ', 'मैं सुलोचन हूँ' इत्यादिरूप से उनकी आत्मत्व की कल्पना करके [असुखं आस्ते] दुःख भोगता रहता है, [पुनः] किन्तु [विद्वान्] ज्ञानी (अन्तरात्मा) [आरोपं त्यक्त्वा] शरीरादिक में आत्मा की कल्पना को छोड़कर [परमं पदं] परमपदरूप मोक्ष को [प्राप्नोति] प्राप्त कर लेता है ।

समाधितंत्र शास्त्र पढ़ने का फल

मुक्त्वा परत्र परबुद्धिमहं धियञ्च,
संसारदुःखजननीं जननाद्विमुक्तः
ज्योतिर्मयं सुखमुपैति परात्मनिष्ठस्तन्-
मार्गमेतदधिगम्य समाधितन्त्रम् ॥105॥
करे समाधितन्त्र का, आत्मनिष्ठ हो ध्यान ।
अहंकार-ममकार तज, जगे शान्ति सुख ज्ञान ॥१०५॥

अन्वयार्थ : [तन्मार्ग] उस परमपद की प्राप्ति का उपाय बतलानेवाले [एतत् समाधितन्त्रम्] इस समाधितन्त्र नामक शास्त्र का [अधिगम्य] अध्ययन करके - अनुभव करके [परात्मनिष्ठः] परमात्मा की भावना में स्थिर चित्त हुआ अन्तरात्मा [संसारदुःखजननीं] चतुर्गतिरूप संसार के दुःखों को उत्पन्न करनेवाली, [परत्र] शरीरादिक पर-पदार्थों में [अहंधिय परबुद्धिं च] जो अहं-बुद्धि तथा पर-बुद्धि को (पर, वह मैं हूँ - ऐसी बुद्धि को) [मुक्त्वा] छोड़कर, [जननाद्विमुक्तः] संसार से मुक्त होता हुआ, [ज्योतिर्मयं] ज्ञानात्मक सुख को [उपैति] प्राप्त कर लेता है ।